कटघरे का कवि 'धूमिल'

ग० वु० अष्टेकर

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

प्रकाशक पंचशील प्रकाशन
फिल्म कॉलोनी, जयपुर -302003

संस्करण 1984

मूल्य पैंसठ रुपये

मुद्रक शीतल प्रिन्टस
फिल्म कॉलोनी, जयपुर–302003

KATGHARE KA KAVI DHOOMIL
By G T Ashtekar *Price* Rs 65 00

चार भाव-शब्द

इधर कई दिनो से स्व धूमिल की कविताएँ चर्चा में रही हैं और उन कविताओं से मेरा गहरा लगाव रहा है। उक्त कवि पर स्वतन्त्र रूप से लिखी गयी पुस्तक का अभाव हम सभी को खटकता रहा था। इसी अभाव की पूर्ति करने के लिए हमारे विभागाध्यक्ष डा० भ ह राजूरकर जी द्वारा मुझमें किये गये आदेशात्मक अनुरोध की प्रेरणा से ही मेरे प्रिय विषय पर यह पुस्तक मुझसे लिखी गयी है। अत मैं सबसे पहले उनका ऋणी हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक लिखने मे मेरे ज्येष्ठ सहकर्मी डा० च सी सोनवणे जी और डा० रा र बोरा जी से समय-समय पर मिले मार्गदर्शन के लिए मैं उक्त महानुभावो का कृतज्ञ हूँ।

मेरे सहकर्मी डा० च भ कवडे जी और डा० ना. वि शर्मा जी से धूमिल पर हुई चर्चाओ से भी इस पुस्तक को लिखते समय सहायता हुई। अत मैं उनका आभारी हूँ।

आवश्यक सामग्री और सदर्भ जुटाने के लिए श्री नदकिशोर शागा और मेरे "आप लिखे खुदा पढे" हस्ताक्षर से पुस्तक की टकित प्रति तैयार करने के लिए श्री प्र रा कोठारकर को धन्यवाद देता हूँ।

स्व धूमिल पर पहली स्वतन्त्र पुस्तक प्रकाशित करने की अपनी बहुत दिनो की साध, इस पुस्तक से पूरी होने की खुशी मे इसे शुद्ध और सुन्दर रूप मे पाठको के हाथो मे पहुँचाने के लिए बडे मनोयोग से प्रयास करने वाले प्रकाशक, श्री मूलचन्द गुप्ता के प्रति भी मैं अपनी आभार की भावना प्रकट करता हूँ।

आशा है, जो पाठक स्व धूमिल की कविताओ मे रुचि रखते है, उनसे मुझे इस पुस्तक की त्रुटिया विदित होगी।

ग० तु० अष्टेकर

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

अकेला कवि कठघरा होता है

'धूमिल' नये कवियो मे एक जाना-माना नाम है। अपनी थोडी-सी रचनाए और बडी सी ख्याति पीछे छोड जाने वाले कुछ इने-गिने हिन्दी-साहित्यिको मे उक्त कवि को गिनाया जा सकता है। जिस आयु मे रचना-कौशल का विकास आरम्भ हो सकने की सभावना होती है, उस आयु मे तो वह इस लोक को अलविदा कह गया। मात्र 40 वर्ष से भी कम आयु उसे मिली। उसी अल्पावधि मे भाव-जगत मे वह जैसा भी जिया, उसका ईमानदार अकन उसने अपनी कविताओ मे किया। अपने परिवेश के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओ को उसने खुले शब्दो मे उतारा। यही कारण है कि उसकी सराहना करने वाले कम और कटु आलोचना करने वाले अधिक हैं। जीवन की अनुभूतियो को खुले आम (रूप मे) प्रकट करना मनीषियो की दृष्टि मे एक श्रेष्ठ साहित्यिक गुण होता है। अपने अनुभूत यथार्थ को प्रकट करने मे बरती गयी प्रामाणिकता को वे सराह सकते है। परन्तु व्यवहार की दृष्टि से वही प्रामाणिकता अवगुण के रूप मे उभरती है। आसपास के लोग या तो उस 'अवगुणी' को कदम कदम पर अपमानित करते रहते हैं या फिर उसके समूचे व्यक्तित्व की ही उपेक्षा कर देते हैं। यह अपमान और उपेक्षा का व्यवहार देखकर दो प्रकार की प्रतिक्रियाए होती हैं। समाज से अपमानित होने वाला स्वाभिमानी व्यक्ति समाज के प्रति और अधिक कठोर रुख अपनाता है। समाज से उपेक्षित होने पर वह अपने को कु ठा के गहरे कूप मे असहाय-सा पडा अनुभव करता है। दोनो स्थितियो मे ऐसे व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज विरोधी माना जाने लगता है। अपने खुले वक्तव्यो के कारण 'धूमिल' को भी कुछ ऐसी ही स्थितियो का सामना करना पडा। उसकी कविताओ से फूटती यथार्थता एक ओर उसके अपने समय के परिवेश को निरावृत करती है तो दूसरी ओर कवि के अपने व्यवहार से भी पर्दा उठाती है। यही कारण है कि वह उपेक्षा और कुछ अनादर का भागी भी बना।

हमारे व्यावहारिक समाज मे 'गोपनीयता' का बडा महत्त्व रहा है। जो भी व्यक्ति अपनी कमजोरियो को गोपनीय बनाए रखने मे सफल होता है, समाज उसे

महान् समझता है। समाज की इसी प्रवृत्ति पर कटाक्ष करते हुए हिन्दी के विख्यात कवि हरिवंशराय बच्चन ने लिखा था—

> *मैं छिपाना जानता तो,*
> जग मुझे साधू समझता।
> शत्रु मेरा बन गया है
> छल रहित व्यवहार मेरा।।'

कवि की उक्त पंक्तियों में प्रकट सामाजिक दोष और उस दोष के शिकार बने व्यक्ति की व्यथा 'धूमिल' के चरित्र पर बहुत खरी उतरती है। परन्तु यह खरापन भी उसके व्यक्तित्व की व्याख्या करने के लिए अधूरा अपर्याप्त है। इसमें कोई शक नहीं कि धूमिल का छलरहित व्यवहार उसका शत्रु बना रहा परन्तु उसे कुछ छिपा कर 'साधु' के रूप में दुनिया के सामने प्रकट होने की न कभी इच्छा हुई न ऐसा न कर सकने का खेद उसे कभी स्पर्श ही कर गया। 'धूमिल' का आन्तर बाह्य व्यक्तित्व किसी भी प्रकार की विसंगतियों से मुक्त था। वह जो भीतर था वही बाहर था। जो सोचता था वही कहता था। जो कहता था वही करता भी था। विचार, उच्चार और आचार की जैसी संगति उसके चरित्र और कार्यों में दिखाई देती है, किसी और कलाकार के जीवन में ढूंढ सकना सहज बात नहीं है। इसी संगति ने उसे श्रेष्ठ *बनाया है। इसी तरह की दुर्लभ संगति का गौरव करने के लिए ही मराठी के महान* सन्त कवि तुकाराम ने लिखा था—

'बोले तैसा चाल, तयाची वदावी पाउल'

(अर्थात्—हम उसके चरणों की वन्दना करनी चाहिए जिसकी कथनी और करनी में अभेद होता है।)

धूमिल को अपने जीवन में 'दुहरा' व्यक्तित्व न 'विकसित' कर पाने का पुरस्कार (!) भी खूब मिला। यहाँ दुहरा से मेरा स्पष्ट मन्तव्य है—भीतर एक और बाहर एक वाला। या फिर और अधिक साफ-साफ कहना हो तो—'मुख में राम बगल में छुरी' वाला। 'विकसित' करने का मतलब है—अभ्यास द्वारा उसका विकास करना। मुझे लगता है—प्रकृति मनुष्य को इकहरा व्यक्तित्व प्रदान करती है। मनुष्य परिवेश से संस्कारित होकर उसे दुहरा बना लेता है। अपने व्यक्तित्व को दुहरा रखने वाला दुर्लभ होता है। उसे दुहरा बनाने वाला सुलभ-साधारण होता है और तिहरा या फिर उससे अधिक अधिक गुणितों में उस का निर्माण करते जाने वाला उत्तरोत्तर असाधारणता की ऊँची से ऊँची स्थितियों में पहुँच जाता है। यह तो उसका दुर्भाग्य है कि दुनिया वाले उसे दोगला कहकर दूषण देते रहते हैं। अतः स्पष्ट है कि इकहरे व्यक्तित्व की दुर्लभता वंदनीय कोटि की होती है तो दोहरे व्यक्तित्व की सुलभता निंदनीय कोटि की होती है। धूमिल प्रथम कोटि का व्यक्तित्व

था। उसने अपनी कविताओं में तृतीय कोटि के चरित्रों का करारे व्यंग्य की तिलमिलाने वाली जो चोट पहुँचाई है, हिन्दी की नई कविता के इतिहास में उसे अनायास ही असाधारणता प्राप्त हुई है। क्योंकि उक्त व्यंग्यकार (कवि) और उसके व्यंग्य के लक्ष्य चरित्र, दोनों असाधारण कोटियों के थे। इसीलिए उनकी टकराहट ने ऐतिहासिक महत्ता का रूप लिया है। यद्यपि स्व मैथिली शरण गुप्त ने यह लिखकर कि प्रभु रामचंद्र का चरित्र ही स्वयं में इतना महान् है कि उसे गाने-बखानने वाला अनायास ही कवि हो जाता है, वर्ण्य की महत्ता को स्थापित करने की चेष्टा की थी। परन्तु रामचन्द्र के चरित्र की लोकव्यापक पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए गोस्वामी तुलसीदास की ही प्रतिभा आवश्यक होती है। और महाकवि गोस्वामी तुलसीदास की प्रतिभा के पूर्ण प्रस्फुटन के लिए प्रभु रामचन्द्र का चरित्र ही आवश्यक होता है। कुछ इसी तरह की बात धूमिल और उनसे वर्णित राजनीतिक-सामाजिक सदोष व्यवस्था के बारे में भी कही जा सकती है। उसके देखे हुए सामाजिक-सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार की दुर्गंध फैलाने वाले नेताओं का चरित्र ही कुछ ऐसा था कि उसे यदि कोई भी कवि निर्भीक होकर, बेलाग भाषा में और वास्तवता का दामन थामकर वर्णित कर देता तो वह 'धूमिल' अर्थात् साहित्येतिहास का महत्वपूर्ण व्यक्तित्व हो जाता। 'धूमिल' की व्यंग्य प्रतिभा भी इतनी प्रबल और सक्षम थी कि यदि वह 'रामराज्य' में भी फूटती तो भी उसके दोषों का अन्वेषण करने में न चूकती। ऐसी स्थिति में यह तो एक अद्भुत संयोग ही समझना चाहिए कि इस देश के स्वतन्त्र हो जाने पर जन-जीवन पर राहु केतु की छायाओं जैसे छाये राजनीतिक नेतृत्व के करिश्मों का वर्णन करने के लिए 'धूमिल' की प्रतिभा मिली और जीवन में किसी भी खोखले मूल्य के प्रति गहन अनास्था भाव रखने वाले एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि को ऐसा समाज और नेतृत्व देखने-परखने का अवसर मिला जो हर तरह से ढोंगी, भ्रष्ट, दिशाहीन और दोगला था। इसी अपूर्व संयोग के कारण ही 'धूमिल' की कविता अविस्मरणीय बन सकी।

'धूमिल' की कविताएं पढ़कर कम-से-कम मुझे तो पहली बार बड़ी ही 'अजीब सी मानसिकता' का सामना करना पड़ा था। लगा था कि इन कविताओं ने मेरी चिन्तना का चीर हर लिया है। मेरे अपने अनभिव्यक्त विचारों और धारणाओं को न चाहकर भी अभिव्यक्ति मिल गयी है। इसका कारण यही था कि 'धूमिल' की कविताओं में वर्णित सामाजिक अव्यवस्था, नेताओं का दोमुंहापन और व्यक्तिगत कुंठा को केवल कवि ने ही क्यों मैंने भी देखा और सहा था। मैंने भी उनके बारे में कुछ-कुछ ही क्यों, ठीक उसी तरह सोचा था जैसा कवि ने। हम दोनों में अन्तर बस इतना ही था कि कवि की सोच को कविता का रूप मिला था और मेरे विचार अव्यक्त-से ही रहे थे। यदि किसी बात पर मेरे मन में कभी कोई तीव्रतम प्रति-

क्रिया हुई हो तो उसे मैंने बहुत हद तक अपने किसी अन्तरंग मित्र के सामने प्रकट कर दिया था। कवि ने अपने समय के समाज के कुरूप को खुली अभिव्यक्ति दे डाली थी तो मैं उस कुरूपता की अनुभूति के आघात से व्यथित सा अनुभव ही करता रहा था मैंने अपनी अनुभूति को इसलिए अभिव्यक्ति तक नहीं बढ़ाया था कि कुछ सीमाएँ थीं मेरी अपनी क्षमता की। परन्तु मन के किसी कोने में यह अभिलाषा बराबर बनी रही थी कि अपनी अव्यक्त रही अनुभूतियों को कोई-न-कोई अभिव्यक्ति दे डाले तो कितनी अच्छी बात होगी। मेरी इस अभिलाषा की पूर्ति का सुख मुझे धूमिल की कविताएँ पढ़ जाने पर हुआ था। यदि मुझे सुख हुआ था तो फिर अजीब सी मानसिकता का क्या मतलब? चितेरा के चीर हरण की अनुभूति क्या? इसे स्पष्ट करना ही होगा। बात यह थी कि मुझे भी अपने समाज में व्याप्त अनेक दागों को देखकर बड़ी व्यथा होती आयी है। यह व्यथा आक्रोश में बदल जाती है। परन्तु यह आक्रोश उन दागों के लिए जिम्मेदार तथा कथित प्रतिष्ठितों को प्रकटतः भला बुरा कहने और मन ही मन उन्हें गालियाँ देने के रूप में ही प्रकट होता रहता है। खुले आम डंके की चोट पर दोषियों को दोषी कहने के सहास का साधारण जन सा मुझमें भी सदा से अभाव रहा है। अपने इस अभाव की पूर्ति को धूमिल की कविता में देखकर अच्छा लगा था। इससे भी एक और महत्वपूर्ण कारण यह था कि मेरे पास उस प्रतिभा का अभाव था जो अपनी आन्तरिक व्यथा कुंठा को सशक्त अभिव्यक्ति देने में मुझे सफल बनाती। कवि धूमिल का मेरा देखा हुआ समाज एक ही था। प्रदेश-सापेक्षता के कारण उसमें थोड़ा-बहुत अन्तर हो सकता है। परन्तु कम से कम राजनीति और राष्ट्र व्यापी घटनाओं का बुरा भला प्रभाव अभिन्न था।

अपने ही समकालीन कवि की अपने ही समकालीन परिवेश के प्रति प्रकट हुई प्रतिक्रियाएँ पढ़कर एक ओर तो सुखद अनुभूति हो रही थी तो दूसरी ओर कुछ संकोच लज्जा का भी अनुभव। मेरी सुखद अनुभूति अखाड़े में चल रही कुश्ती के उस दुबले दर्शक की आवेश सी था जो दंगल लड़ रहे अपनी पसन्द के पहलवान को विजयी होने के लिए बैठे बैठे ही दाव पेंच बताता जाता है और अन्ततः उस पहलवान को विजयी देख कर खुश हो जाता है, तालियाँ पीटता है और अपने कंधों पर उसे उठा कर न न सकने की अपनी दुर्बलता को छिपाने के लिए फूलों का हार उसके गले में डाल कर, उसकी कलाई को चूम कर हवा में उसके हाथ को उठा देता है। संकोच का अनुभव इसलिए होता रहा था कि धूमिल की कविताओं में कई बार अशिष्ट अश्लील से शब्द पढ़ने को मिले थे। वस्तुतः यह वर्णन उस अशिष्टता अश्लीलता का दस लाखवाँ हिस्सा भी नहीं था जो सामाजिकों के यौनगत कुरूप-हरण पर्व में व्याप्त गयी है। फिर भी हम लोग उनकी चर्चा करने से कतराते हैं ऐसा करने में

लज्जा का अनुभव करते है। अश्लीलता का दोष 'धूमिल' की कविता के मत्थे मढना सचाई से मुह मोडना है। यदि हम मान भी लें कि कुछ कविताओ मे यौन-सम्बन्धी कुछ अश्लील या शिष्ट-असम्मत शब्दो का प्रयोग हुआ भी है तो वह दोष कविता की अपेक्षा उस समय समाज का अधिक है जिसका प्रतिबिम्ब मात्र कविता मे दिखाई पडा है। और दूसरी बात यह है कि श्लील-अश्लीलता का भाव किसी कलाकार की कला की अपेक्षा उसका आस्वाद लेने वाले रसिक की समझ का अधिक सापेक्षी हो सकता है। इतना कुछ जानते हुए भी 'धूमिल' की कविता मे प्रकट हुई यौनगत कुरूपता कु ठा को हम 'चौंकाने वाली' इसलिए समझने है कि हम अपने सस्कारो से मुक्ति नही मिलती। उक्त क्षेत्र के सस्कार बेहद गहरे होते हैं। उनकी नींव हमारी एक अनोखी शिक्षा-दीक्षा की कठोर भूमि पर होती है। एक ओर, एकान्त मे अवसर मिलते ही यौनाचार करने की जीव-सुलभ स्वयं-शिक्षा हमे कैशोर्य की कच्ची अवस्था से ही मिलती रहती है तो उसी के साथ दूसरी ओर यौनाचार को सबसे बडा पाप समझने वाली मध्ययुगीन धर्मांध नैतिकता से अपने पापो को छिपाने की सामाजिको से दीक्षा भी मिलती जाती है। इस शिक्षा और दीक्षा के परस्पर विरोध के कारण ही हमारे जीवन मे सबसे बडा ढोंग रचा जाता है। इस ढोंग का समाप्त कर यदि कोई कवि उक्त शिक्षा और दीक्षा की दिशाओ के वास्तविक अन्तर को उजागर करने का साहस करता है तो वह हमारी दृष्टि मे अशिष्ट-अश्लील कविताएँ लिखने वाला लगता है। वस्तुत यौनाचार की 'स्वयंशिक्षा' के क्षेत्र मे प्राय हर मानव की स्थिति एक-सी होती है परतु 'यौनाचार को गुप्त रखने की दीक्षा' के पालन मे मिलने वाली कम-अधिक सफलता के कारण मानव-मानव के बीच अनैतिक-नैतिक आचरण वाले भेद उत्पन्न होते है। मराठी की एक बडी सार्थक कहावत है—'वस्त्रा आड दुनिया नागवी' अर्थात् 'वस्त्रो की आड मे हर कोई नगा होता है।' इस पर हर साधारण मनुष्य काव्य-कला मे प्रकट हुई नग्नता से चौंकता है, उसके प्रति अपनी अरुचि का भाव दिखाता है। इसे मानव-स्वभाव के अनुकूल ही समझना चाहिए। नग्नता साधारण स्थिति नहीं होती। व्यवहार मे हम या तो समझ-बूझ खोये, पागल को विवस्त्र देखने के आदी हैं या फिर जिसने इस सृष्टि के सभी रहस्यो को जान लिया ह उस वीत-रागी परम साधु पुरुष को वस्त्र-त्याग करके समाज मे विचरण करते देखने से हमे कुछ नही लगता। परन्तु यदि कोई साधारण व्यक्ति ऐसा करे तो हमें आश्चर्य और विस्मय होता है जो हमारी इस सावक आशका से (भय से) उभर आता है कि वह व्यक्ति कही हमारी पात तो नही खोल रहा है। अपने खुले वक्तव्यों मे कही अपने जैसे साधारण लोगो की सभ्यता के आवरणो मे लिपटी नग्न देह को नगी तो नही कर रहा है? सम्भवत यही हमारा भय उसे दु साहसी करार दे डालता है और स्वय को नैतिकता को नकाब चढी झूठी प्रतिष्ठा की आड म रक्षित समझने का भ्रम उत्पन्न करता है। इसी भ्रम को तोडने के लिए 'धूमिल' ने अपनी कविताए रची

हैं। उसकी कविताओं में उभरती नग्नता न पागल की है न साधु पुरुष की और न ही अकेले कवि की। वह तो हम सभी की हैं। यही कारण है कि हम वह चौंकाती हैं दुःसाहसी लगती रहती हैं। और यों ही लगता है कि हमारी उस आतरिकता को, जिसे हमने बड़े जतन से प्रकट होने से बचाए रखा था कोई चौराहे पर निरावृत कर रहा है। फिर भी उसके इस दुःसाहस के प्रति क्षोभ या दुःसाहसी के प्रति कोई दुर्भाव उत्पन्न नहीं होता। संभवतः यही कवि की सबसे बड़ी सफलता है।

धूमिल की कविताओं की ओर आकर्षित होने के और भी कई कारण हैं। उसकी स्पष्टवादिता तो उनमे से एक है। अनेक कारणों में से कुछेक का उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा। 'संसद से सड़क तक' की कविताएँ पढ़कर एक ही प्रश्न बार-बार उठा था—ये कविताएँ क्यों लिखी गयी होंगी? यश अर्थ व्यवहार-कौशल और कान्तासम्मत उपदेश के कालबाह्य प्रयोजन उक्त प्रश्न का उत्तर खोजने में सहायक नहीं हुए। स्वान्तः सुखाय की बात भी अटपटी लगी। वैसे आत्माभिव्यक्ति का सुख कवि को अवश्य मिला होगा परन्तु वही उसका चरम प्रयोजन न था। सोचता हूँ कि स्वान्तः सुखः सृजन पूर्व और सृजनकालीन दुःख से मुक्ति के आनन्द से आगे कुछ नहीं होता। यदि कोई कवि केवल अपने सुख के लिए कुछ ऐसी रचनाएँ कर जाये जो दूसरों के लिए परम दुःख दायिनी हो तो उसे क्या कहेंगे? वस्तुतः स्वान्तःसुख' की कल्पना रचनाकार की अपेक्षा रसिक के पक्ष में अधिक सटीक लगती है। स्वान्तःसुख के लिए हम कविताओं को चुन चुन कर पढ़ने का अधिकार रखते हैं। यदि कोई कविता पसन्द नहीं आयी तो हटा दीजिए उसे। ऐसे ही अपने सुख को प्राप्त करने का अधिकार प्रयुक्त करने का मुझे सुअवसर मिला। मैं इसे सौभाग्य समझता हूँ क्योंकि अध्यापक के पेशे में ऐसे अवसर मिलना ही बड़ी बात है। मैथिली ब्रज अवधी राजस्थानी के ज्ञान से कोसों दूर रहकर भी कुंजियो-टीकाओं के सहारे विद्यापति सूर तुलसी और मीरा की रचनाओं का सौन्दर्य विशद (?) करने का पाठ्यक्रमीय दायित्व निभाना इस पेशे में पड़े व्यक्ति की नियति होती है। यदि ऐसे अवांछित परन्तु रोजी रोटी से जुड़ कर आने वाले जीव को कभी अपनी पसन्द के कवि पर सोचने-समझने और समझाने का अवसर मिला तो यह उसका सौभाग्य नहीं तो क्या कहलाएगा? अतः उक्त कविताओं के प्रति रुचि का होना और गहराना स्वाभाविक है।

धूमिल की कविताओं का ग्रामीण बोध मेरे लिए बहुत बड़ा आकर्षण का कारण रहा है। मैं उक्त कवि को उस पीढ़ी का बौद्धिक प्रतिनिधि समझता हूँ जो पैदा तो हुई देहात में परन्तु पढ़ी और आजीविका के लिए जुड़ी रही शहर के साथ और जिसे शहर में रहकर भी देहात का विस्मरण न हो सका। देहाती जीवन की समस्याओं की चिंता से न उबर सकने और शहरी जीवन की सुविधाओं के सुख

में अपनी सुधबुध न खो सकने के कारण इस पीढ़ी की आन्तरिक स्थिति एक बड़ी विचित्र उलझन में फंसी रहती है। देहाती और शहरी जीवन के बीच की खाई बहुत पहले से है। संस्कृत और प्राकृत साहित्य में देहाती लोगों की मूढ़ता के कई किस्से मिलते हैं। नगर का रहने वाला हमेशा से स्वयं को नागर अर्थात् चतुर मानता है। आज भी स्थिति में कोई खास अन्तर नहीं आया है। वस्तुतः समाजवाद के लेबुल के नीचे पनपी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने तो स्वाधीनता के बाद ही देहाती और शहरी जीवन की खाई को और बढ़ा दिया है। ऐसी स्थिति में उक्त पीढ़ी का व्यक्ति शहर में आकर आत्महीनता का शिकार होता हो तो उसका दोष नहीं होता। स्थितियां उसे शहरवासियों के प्रति कटुता से भर देती है और शहरवासियों में भी यही कुछ होता है। परिणामतः दोनों अपने-अपने समाज के श्रेष्ठता की कल्पनाओं के साथ चिपके रहते हैं। शहरी और देहाती समाज की पारस्परिक कटुता का प्रमाण इससे मिलता है कि शहरी समझता है शहर का कुत्ता देहाती आदमी से अधिक बुद्धिमान होता है और देहाती समझता है—देहाती कुत्ता शहरी आदमी से अधिक ईमानदार और अच्छे गुणों से सम्पन्न होता है। दोनों के तर्क अलग-अलग होते हैं। शहरी आदमी कुत्ते को इसलिए बुद्धिमान मानता है कि वह वाहनों की भीड़ होने के बावजूद अगल-बगल, आगे-पीछे देखकर रास्ते को पार कर सकता है जो देहात का आदमी नहीं कर सकता। देहाती आदमी की धारणा में फ्लैट वाली सभ्यता में पलने वाला शहरी जीव, बगल के फ्लैट में होने वाले अत्याचार पर भी ध्यान नहीं देता, प्रतिकार की बात तो दूर ही रही। जबकि देहात में किसी भी रात्रि में, किसी भी छोर पर, किसी भी प्रकार की लूट होने की सूचना वहाँ के कुत्ते जोर-जोर से भौंक कर सभी को ईमानदारी से दे डालते हैं जिससे अवांछनीय घटना का प्रतिरोध-प्रतिकार सम्भव होता है।

धूमिल की कविताओं में ग्रामीण-बोध की भावना मुखरित हुई है। शहरी जीवन के दोष उजागर हुये हैं। कवि का देहाती जीवन से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा रहना ही उसका कारण है। कविता की निरर्थकता को बैलमुत्ती की इबारत की निरर्थकता के साथ जोड़ने की कल्पना शहरी लोगों की दृष्टि में होली के दिनों में कवि को व्यंग्यात्मक गौरव देने का आधार हो सकती है परन्तु मैं जिस पीढ़ी की बात कर रहा हूँ उसके लिए तो उक्त कल्पना सशक्त सम्प्रेषण का माध्यम बनकर उभरती है। ग्रामीण परिवेश में ऐसे काव्योपकरण जुटाना, जो अपनी बात को अधिक सम्प्रेषणीय बनाने में सहायक हों धूमिल का प्रिय काम था। वह किसी भी स्थिति में देहात के जीवन को भुला न सकता था। केवल कविता की निरर्थकता को उजागर करने के लिए बैलमुत्ती की ही बात नहीं बल्कि कवि और भी कई प्रसंगों में बैल को याद करता है। देहात के घर में बैल की मृत्यु पर उसने डायरी में लिखा—

बुधवार 30 जुलाई 1969

बाछा सुबह भोर में करीब चार बजे मर गया। किसान को बैल की मौत बूढ़े बाप से ज्यादा अखरती है। घर के लोग बड़े दु:खी हैं। मैंने उसके मृत शरीर को गड़वाया नहीं। निकाम चमार को बुलवा कर दे दिया। वे उसको निकिया कर चमड़ा उतार लेंगे। चलो, न सही बाछा उसका चाम तो किसी के काम आया।

(नया प्रतीक—अप्रैल 1978 पृष्ठ—15)

केवल बादशाह बैल की मृत्यु पर ही कवि बैल का महत्व जानता मानता हो यह बात नहीं। वाराणसी के किसी थियेटर में बैठकर अमरीकी फिल्म देखते हुये भी *भी बैल की याद उसका पीछा नहीं छोड़ती। उसने अपनी डायरी में टिप्पणी* लिखी है—

गुरुवार 20 फरवरी 1969

फिल्म में एक बात रोचक है। हर दृश्य के बाद हीरो की बगल में एक लड़की पानी पर नाव में घर में, रेत पर यानी कि हर जगह। जैसे एक भारतीय किसान की बगल में बैल का होना लाजिमी है उसी तरह अमरिकी नौजवान की बगल में औरत जरूरी है।

(नया प्रतीक, अप्रैल 1978 पृष्ठ—11)

मैं यहाँ बैलों के बारे में कही गयी बातों का हवाला लेकर दे रहा हूँ। बहुत प्राचीन समय से ग्राम ग्रामीण और ग्राम्यत्व का समन्वित प्रतिनिधित्व बैल ही करता रहा है। कम से-कम शहरी लोग तो यही समझते हैं। ग्रामीणों की बौद्धिकता पर प्रश्नचिह्न लगाने के लिए इसी का स्मरण दिलाते रहते हैं। आज भी यह स्थिति बदली है यह बात नहीं। अभी अभी कुछ ही दिनों पहले इधर मराठी के एक नागर लेखक ने एक अपूर्व गवेषणा की घोषणा की है। कृषकों में साधु-सन्त और कवि क्या उत्पन्न नहीं होते? इस प्रश्न का दो टूक उत्तर खोज निकाला है। उसकी स्थापना है—चूँकि कृषक बैलों के सान्निध्य में अधिक समय रहते हैं। इसलिए उस समाज में साधु-सन्त अथवा कवि उत्पन्न नहीं होते। मिहनतकशों के मुल्क में और श्रम प्रतिष्ठा के पक्षपाती राष्ट्रपिता गांधीजी के देश में रहकर श्रमिकों का ऐसा क्रूर उपहास नागरी वृत्ति की कुटिलता का और टुच्चेपन का ही प्रमाण है। यह बात धूमिल में नहीं मिलती।

धूमिल की राजनीतिक चेतना के प्रति भी मैं बहुत आस्थावान हूँ। वस्तुतः यहाँ की स्वाधीनता के बाद की विकृत राजनीति के दुष्परिणामों में न दहाल बना न

शहर। दिनो-दिन बढती कठिनाइयों ने दोनो स्थानो मे रहने वालो का जीवन दूभर बनाया। इसकी व्यथा ने उक्त दोनो सामाजिक वर्गो मे पारस्परिक समानुभूति-सहानुभूति की नीव डालने मे सहायता पहुचायी। इसका परिणाम अर्थ के क्षेत्र मे कुछ हुआ हो या न हुआ हो परन्तु कविता के क्षेत्र मे अवश्य देखा गया। इस शती के पाचवें दशक के बाद के कवियों ने ग्राम और शहर के वासियों के कष्टो को समान भाव से चित्रित किया। धूमिल की कविताओं मे देहाती और शहरी लोगो के जीवन की समस्याओ व्यथाओ के अकन के कई प्रसग हैं। कुल मिलाकर लगता है कि कवि ग्रामीणो का पक्षपाती और शहरी लोगो के प्रति सकीर्ण-वृत्ति रखने वाला है। यह बात हद तक स्वाभाविक होने से निरी झूठी भी नही कही जा सकती। धूमिल और कुछ वर्ष जीता तो शायद यह आक्षेप धुल जाता। क्योकि उसकी कविताओं में शहरी जीवन की समस्याएं और समस्याओ से उत्पन्न होने वाली व्यथाओ का वर्णन कुछ-कुछ सहानुभूति अर्जित करता जा रहा था। वैसे ग्रामीण जीवन के पक्षपाती होने का दोष भी आशिक सच्चाई है क्योकि धूमिल ने देहातियो के दोषो को दिखाने मे भी कोई कमजोरी नहीं दिखायी थी।

स्व धूमिल की कविताओं मे देहात और शहर, कविकर्म और राजनीति, आस्था और अनास्था, सामाजिकता और असामाजिकता, न्याय और अन्याय, अहिंसा और हिंसा, ईमानदारी और बेईमानी, जिजीविषा और निराशा आदि प्राय सभी मानव-जीवन के सभ्य और असभ्य, सुसस्कृत और असस्कृत अगो का चित्रण हुआ है। वह चित्रण ऐसी ठोस यथार्थता के धरातल पर हुआ है कि समूची समकालीन सामाजिक व्यवस्था का मानो वह प्रतिबिंब हो। उसकी कविता मे ऐसी अपूर्व क्षमता है कि अपने देश के किसी भी वर्ग, व्यवसाय और विचारो से सम्बद्ध हर किसी का उसका असली चेहरा (व्यक्तित्व) वह स्पष्ट कर देती है। इन कविताओ को पढ जाने पर हमे कुछ ऐसा अनुभव होने लगता है कि मानो कवि हमारा हाथ पकडकर कह रहा है—

> 'लो, यह रहा तुम्हारा चेहरा,
> यह जलूस के पीछे गिर पडा था।'

(ससद से सडक तक पृ० 10)

अपने पारिवारिक दायित्वो मे दबे, अधविश्वासों रूढियों के खिलाफ खडे, आर्थिक अभाव के कारण सामान्य जीवन-क्रम को निभा सकने मे अपने को असमर्थ अनुभव करने वाले एक व्यवस्था-विरोधी बुद्धि-जीवी का आक्रोश जितनी सार्थकता के साथ धूमिल की कविताओ मे देखा जा सकता है, और किसी की कविताओ मे शायद ही देखने को मिलेगा। तथा-कथित निम्न मध्यवर्गीय शिक्षित व्यक्ति की दृष्टि

स अपने परिवेश को देखने–समझने का जितना ईमानदार प्रयास उसकी कविताओं म मिलता है, औरों की कविताओं म शायद ही मिले। समाज के हर वर्ग और वग क हर स्तर के व्यक्तियों द्वारा अपने असली चेहरों को भुला कर मुखौटों को लगाकर समाज के जलूस म शामिल होने की वास्तविकता को धूमिल ने पहचाना था, इसीलिए वह हम सभी को हमारे असली चेहरों से परिचित कराने के लिए अपनी कविताओं का आईना हमारे सामने रख गया। ऐसा आईना जो व्यवहार म प्रचलित आईने म अलग है। कहते हैं कि व्यवहार म आज तक कोई आईना ऐसा नही बना जो दखने वाले को उसका कुरूप भी कुरूप बता देता हो। धूमिल की कविताओं ने आईने की उक्त कमजोरी को दूर कर दिया है। य कविताएँ हमारे वास्तविक रूप का जो प्राय कुरूप होता है प्रतिबिंबित करती है। यदि वह रूप हमारा है तो उसकी कुरूपता को सहकर भी हम धैर्य के साथ उसे निहारने की कोशिश करनी चाहिए। आईने पर लाछन लगा कर अपनी कुरूपता पर पर्दा डालने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

बात पर्दा डालने तक आ पहुची है तो पर्दा उठाने की बात भी आवश्यक है। इधर कुछ वर्षों से स्व० धूमिल की कविताएँ पढाने का अवसर मिला। इस अध्यापन म अद्भुत अनुभव गाठ म बँधे। छात्र छात्राएँ कविताओं के कुल जमा जोड अथ पर तो रीझ जाते थे परन्तु कविता की पंक्तियों का पढकर शब्दश अर्थ स्पष्ट करत समय ऊब जात थे। मैंने उनके चेहरों पर सबसे ज्यादा खुशी उस दिन देखी था जिस दिन मैंने आलोचना त्रैमासिक के 33 वें अक के आधार पर श्री काशीनाथ सिंह, श्री विश्वनाथ त्रिपाठी और श्री रामवक्ष क मन्तव्यों का उद्धृत करके उन्ह यह समझा दिया था कि स्व धूमिल की कविताओं म 'निष्ठयात्मक' स्वरों के बावजूद अन्तर्विरोध है कभी कभी उसकी कविता 'उलट बासी' का रूप ले बैठती है और उसकी कविता 'सूक्तिधर्मी होने स सूक्ति की ललक म 'कविता का समग्र प्रभाव बिखरा-सा' लगता है। धूमिल की कविताओं का सकलन 'ससद से सडक तक' एक मात्र ऐसी पाठ्य-पुस्तक छात्र छात्राओं के हाथों म होती है जो उन्ह 'परीक्षार्थी होने स बचाकर विद्यार्थी होने पर विवश कर देती है। उक्त सकलन को समझने की कुजिया बाजार म उपलब्ध न होने स ही सही, मूल को पढने पर मजबूर करती है। वैसे कवि का राजनीतिक बोध और व्यग्य उन्ह बडा प्रिय लगता है। समकालीन राजनीति और समाज का स्वरूप उन कविताओं म देखकर व प्रभावित होते है और सोचने-समझने लगते हैं। इस सोचने और समझने की शक्ति का विकास करना अध्यापन का लक्ष्य मान कर बहुत बार घडी की सूइयां क सकेत और पुस्तक की छपी वाक्य-पक्तियों क शाब्दिक अर्थ की सकुचित सीमाओं स बाहर निकल आना अनिवार्य होता रहता है। कवि की रचनाओं को हमारे इस प्रदेश के पारिवेशिक

सन्दर्भों में भी देखकर समझाना पडता है। कभी-कभी किसी विचार या भाव को स्पष्ट करने के लिए किसी प्रादेशिक कवि को भी उद्धृत करना आवश्यक हो जाता है। सैद्धान्तिक बातो की अपेक्षा रोचकता के आधार पर कविता अर्थ स्पष्ट करना अधिक युक्ति-सगत लगता है। अपने इन्ही अनुभवो ने यह पुस्तक लिखने मे मुझे भारी सहायता की है। 'परीक्षा' तक ही इसकी उपयोगिता को सीमित रख कर इसे टीका होने से बचाने का और सैद्धान्तिक समीक्षा के नाम पर सैकडो सम्बद्ध-असम्बद्ध उद्धरणो को उद्धृत करने की एकरसता मे इसे पूर्णत मुक्त रखने का मेरा सकल्प रहा है। वस्तुत स्व धूमिल की कविताओ पर मैं अपनी प्रतिक्रियाओ को शब्द-रूप देना चाहता था जिससे धूमिल को समझने-सराहने वालो को अपनी प्रतिक्रियाओ का इनसे मिला कर देखने का अवसर मिले। इसमे यदि मेरी समझ की कमजोरी की कलई भी खुलती हो तो कोई बात नही। इसीलिए इस पुस्तक का स्वरूप 'अपनी प्रतिक्रियाओ की एक मुक्त अभिव्यक्ति का' रखा गया है। मैं जानता हू कि मेरी ये प्रतिक्रियाए विद्वान समीक्षकों के लिए कठोर तर आलोचना की असीम सम्भावनाए अपने मे सजोयी हुई हैं। मैं उसे सहने को इसी आशा पर तैयार रहूगा कि मेरी इस पुस्तक को पढकर मुझमे ही कुछ सोचने-समझने वालो को इसमे शत-प्रतिशत बकवास न लगेगी। यदि इस पुस्तक से कुछ पाठको मे स्व धूमिल की कविताओ मे थोडी-सी भी रुचि उत्पन्न हो जाय तो मुझे अपनी सफलता का सुख मिलेगा।

इस पुस्तक का शीर्षक 'कटघरे का कवि धूमिल' भी कुछ अजीब-सा लगेगा। हमने आज तक कटघरे (या कठघरे या कठरे) का कोशगत अर्थ 'जगलेदार घेरे या घर' और 'ऐसा बडा पिंजडा जिसमे जगली जानवर को बन्द करके रखा जाता है' जाना है। प्रस्तुत पुस्तक के शीर्षक का उक्त अर्थवाले कटघरे से सम्बन्ध बिल्कुल नही है यह कहना आत्मप्रवचना होगी। परन्तु यह कहना अधिक सार्थक होगा कि उक्त शीर्षक का घनिष्टतर सम्बन्ध धूमिल द्वारा कल्पित कटघरे से है। जीवन भर कोर्ट कचहरी के चक्कर, कभी वादी और बहुत बार प्रतिवादी के रूप मे, लगाने वाले कवि ने कटघरा उसे कहा है जो न्यायासन के सामने लकडी का बना अर्द्ध वृत्ताकार और सिर पर खुला होता है। जिसमे खडे होकर अभियुक्त और अभियोक्ता अपने-अपने हलफिया बयान देते हैं। जिसके सामने वकील खडे होकर जिरह-बहस करते हैं और जिसमे खडे होकर अभियोग को सिद्ध-असिद्ध करने के लिए लाये-लाये-जुटाये गये गवाहो के बयान होते रहते हैं। उक्त कोर्ट कचहरी के कटघरे से स्व धूमिल खूब परिचित था। मुकद्दमेबाजी उस पर लादी गयी मजबूरी थी। अनेक झूठ-मूठ के दोषो-अभियोगो से बरी होने के लिए वह कई बार कटघरे मे खडा होकर हलफिया बयान दे चुका था। परन्तु लगता है उसके बयानो को सुन कर दिये गये फैसलो ने उसके मन मे न्याय के प्रति आस्था कम और अनास्था अधिक उत्पन्न की थी। इसी-लिए वह **'अकेला कवि कटघरा होता है'** कहता है। कविता को 'शब्दो की अदालत

म/मुजरिम के कटघरे म खड़े बेकसूर आदमी का/हलफनामा' घोषित करता हैं। कवि और कविता–विषयक उसकी धारणाओं का कटघरे के साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई देता है।

वस्तुत स्व धूमिल अपने जीवन म प्राय अभियुक्त बन कर न्यायालय के कटघरे म खड़ा होकर अपना निर्दोषत्व सिद्ध करन के लिए बयान देता रहा परन्तु कविता के न्यायलय मे शब्दों के कटघरे म खड होकर अपनी समकालीन व्यवस्था के दोषो को उजागर करने के लिए बयान देता रहा । अभियुक्त और अभियोक्ता की भाषा म बडा अन्तर होता है। पहले की भाषा बचावात्मक और दूसरे की आक्रामक होती है। धूमिल की कविता न अपनी (म) व्यवस्था पर जम कर आक्रमण किये। उस पर कई प्रकार क लाछन लगाये। उसके राजनीतिक सामाजिक आर्थिक और शैक्षणिक जैसे अगा प्रत्य गो को भ्रष्ट सिद्ध करन का भरसक प्रयास किया। परन्तु इससे क्या हुआ ? यह प्रश्न महत्व का हो सकता है। वादी हो या प्रतिवादी, उसके किसी भी तरह के बयान से न्याय प्रभावित होता है, यह कहना कठिन है। न्याय को उक्त दोनो पक्षो की बजाय गवाह पक्ष अधिक प्रभावित करता है। चाहे सामाजिक न्याय हो अथवा कोट-कचहरी स मिलन वाला न्याय हो, हमेशा ही सत्य क पक्ष म होना हो यह आवश्यक नही। कई बार असत्य के पक्ष मे भी होता है। कहत ह कि एक बार इस प्रदेश — महाराष्ट्र — स चार धर्मनिष्ठ बाबा विश्वनाथ के दर्शन करन काशी की पैदल यात्रा पर निकल। रास्त म उन्ह कई सकटो का सामना करना पडा। एक बार तो उन्ह कई दिनो तक पीन का पानी ही नही मिला। प्यास स व्याकुल होकर ये चारो एक दिन किसी एक देहात क बाहरी हिस्से म बस चमार के घर पहुँच। चमार क पास भी पय जल उस समय नही था तो जिस जल म जूत बनान क लिये चमडा भिगोया गया था वही पीकर प्यास बुझान का उन्होन तय किया। तीनो न उसन पानी पी लिया परन्तु चौथा कुछ अधिक धर्मनिष्ठ था। उसम तितिक्षा भी थी। उसन वह पानी नहीं पिया। दूसरे दिन तक वह प्यास का सहता रहा और आखिर पय जल ही पी गया। यात्रा से व चारो अपन घर लौट तो अपय जन पीने वाल तीनो न जाति बिरादरी की पचायत म चौथ पर दोष लगाया कि उसन चमार क घर का और चमडा भिगोया पानी पी लिया है, जिससे जाति धर्म भ्रष्ट हुआ है। अत उसे जाति स निकाल दिया जाय। चौथ न खूब प्रतिवाद किया। सच्चाई का सम्बल बना कर अपन तीनो सहयात्रियो द्वारा ही अपय जल पीन की बात ईमानदार बयानो म कह डाली परन्तु पचायत का न्याय तीनो अभियोक्ताओ के पक्ष म रहा। अभियुक्त की निर्दोषता किसी काम न आयी। कुछ इसी तरह का दुर्भाग्य विद्रोही कवियो क साथ भी होता है। उनकी रचनाओ म उस व्यवस्था के प्रति विरोध होता है जो मूल म दोषी है परन्तु उसकी व्याप्ति की सीमाएँ न्याय-व्यवस्था को भी अपन म घेर लेता हैं इसलिए दोष व्यवस्था का नहीं वरन् कवि का लगन लगता है।

कटघरे में अभियुक्त की हैसियत से किसी निर्दोष व्यक्ति को खड़ा करने पर उसके बयानों में जो तल्खी होती है वही तल्खी स्व० धूमिल की कविताओं में मिलती है। झूठे अभियोगों की जवाबदेही के लिये मजबूर किये गए कवि का स्वर अपने परिवेश और स्थितियों के प्रति आक्रामक हो उठता हो तो कोई आश्चर्य नहीं। आक्रमण बचाव का सर्वोत्तम साधन है, इस बात को वह जानता था। लेकिन कवि या किसी भी कलाकार का आक्रामक होना उसे भले ही कुछ हद तक बचा पाने में सहायक हो, उसकी इच्छा के अनुकूल स्थितियों में परिवर्तन लाने में असमर्थ होता है। कोई भी विद्रोही कलाकार व्यवस्था का विरोध अवश्य कर सकता है परन्तु व्यवस्था का विकल्प खड़ा नहीं कर सकता। इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति ठीक उसी हलफिया बयान जैसी व्यर्थ होती है जो न्याय के पलड़े को अपने पक्ष में झुका नहीं सकता। स्व० धूमिल की कविताएँ भी कुछ ऐसी ही अभिव्यक्ति वाली हैं। इसका दोष कविताओं का नहीं बल्कि कविताओं की शक्ति-सीमा का है। वैसे भी किसी रचनाकार की रचनाओं ने कोई भारी क्रांति की हो, समाज की सड़ीगली व्यवस्था को तहस-नहस करके उसके स्थान पर कोई और सुन्दर व्यवस्था खड़ी कर दी हो यह देखने-सुनने में नहीं आता और न ही कोई उस तरह की अपेक्षा ही उनसे करता है। वैसे अपने समय की बिगड़ी व्यवस्था को उसने धक्के देकर उसकी चूलें हिला दीं तो भी पर्याप्त कहा जा सकता है। मुझे लगता है—स्व० धूमिल की कविताओं में वैसी शक्ति है। अपने देश और समाज के सर्वांगों में लगे घुन के प्रति पाठकों के मन में विक्षोभ उत्पन्न करते हुए भी देश और समाज के हित के प्रति उनकी महान् आस्था की रक्षा करना उसकी कविताओं का कमाल कहा जा सकता है। वे कविताएँ एक ऐसे व्यक्ति के हलफिया बयान-सी हैं जो अभियुक्त और अभियोक्ता की मध्यरेखा पर खड़ा है। कभी उसे लगता है कि समूची सामाजिक पतनावस्था के लिये नेतावर्ग जिम्मेदार है तो अभियोक्ता लगने लगता है। और कभी उसे लगता है कि उक्त पतन के लिए वह स्वयं और जनता दोषी है तो अभियुक्त लगता है। एक बात अवश्य सिद्ध होती है कि कवि व्यवस्था-विरोध में जनता के साथ है, जनता के पक्ष में है।

'कटघरे का कवि धूमिल' शीर्षक इस पुस्तक के लिए निश्चित करते समय मेरे मन में धूमिल की जंगल-संबंधी अनुभूतियाँ और धारणाओं का भी विचार था। वह जंगल को जानता था। जंगली जानवरों को पहचानता था। कटघरे में बन्द किये गये जंगली जानवर की बौखलाहट और मुक्ति के लिए की जाने वाली छटपटाहट उसने देखी थी। जंगल के उन्मुक्त जीवन से कट कर पालतू होने की पीड़ा को उसने देखा था। कुछ ऐसी ही परन्तु विपरीत पीड़ा उसकी कविता के स्वरों में उभरती है। वह जिस प्रकार की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था

को आदर्श जीवन का आधार मानता था उसके विपरीत व कटघरे में वह आजीवन बन्द रहा । अत उसकी कविताएं उस कटघरे की भी विरोधी लगती हैं । कटघरा उसकी दृष्टि में समकालीन अव्यवस्था द्वारा खड़ा किया गया न्यायदान का ढकोसला है । कटघरा उसकी दृष्टि में एक ऐसे घेरे का प्रतीक है जिसमें खड़े होकर हलफिया बयान देने वाले की सारी कोशिशें बेकार हो जाती हैं, भले ही बयान देने वाला झूठे इल्जामों से घिरा प्रतिवादी हो या फिर सच्चे अभियोग लगाने वाला वादी हो । इसी कटघरे को वह घेराव भी कहता है और लिखता है कि—

> 'मगर अब—
> अब उसे मालूम है कि कविता
> घेराव में
> किसी बौखलाए हुए आदमी का
> संक्षिप्त एकालाप है'
>
> (स 10)

और अन्त इस अव्यवस्था द्वारा निर्मित कटघरे के बारे में एक और विशेष बात मेरे ध्यान में यह आयी थी कि इसमें खड़ा रह कर बयान देने वाला कवि धूमिल हलफिया बयान अवश्य देता है परन्तु वह न गीता-कुरान-बाइबिल पर हाथ रख कर या हाथ में गंगाजल लेकर बयान देता है और न ही भगवान या अल्लाह या गॉड की कसम खा कर बयान देता है इसलिए उसके बयान में सच्चाई अधिक है । जब मुझे उसकी कविता में कहीं पर भी, जिसे आस्तिकता का सह सकूँ ऐसा स्वर नहीं मिला तो उसके बयान को हलफिया कहने में कुछ आशंका हुई । परन्तु उसकी कविता में देखा जा सकने वाला विवेक और ईमानदारी का भाव देख कर यही लगा कि यह तो अपनी सद्‌असद् विवेक बुद्धि को साक्षी रखकर अपना बयान देने वाला एक सच्चा इंसान है । इस तरह मैंने अनुभव किया कि अव्यवस्था के कटघरे में कभी अभियुक्त, कभी अभियोक्ता और कभी गवाह की हैसियत से खड़ा होकर अपने समकालीन सामाजिक और राजनीतिक कुरूप पक्ष का नंगनाच करने वाले हलफिया बयान देने का साहसी काम स्व धूमिल ने किया है । इसीलिए उसे कटघरे के कवि के रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक है । वस्तुत उसे कटघरे के कवि के रूप में देखने की दृष्टि और सोचने की प्रेरणा का उद्‌गम स्रोत श्री काशीराम सिंह के निम्न लिखित मन्तव्य में है—

> '*तो धूमिल ने कचहरी से कटघरा लिया और उसे जो कुछ कहना हुआ, इसी* कटघरे में खड़े होकर कहा । वह यहीं से 'ऐड्रेस' करता था—यह शैली उसके अपने व्यक्तित्व से मेल भी खाती थी । वह जब भी दो-तीन आदमियों के साथ होता, बात करते-करते आवेश में आ जाता और इस तरह बोलता शुरु

करता जैसे वे तीन आदमी पूरी भीड़ हो। इस भीड में उसे दो तरह के लोग दिखाई देते-कुछ व्यवस्था के दलाल और उसके पक्षधर और रहेसहे उसके मारे हुए या उससे बेखबर।'

(आलोचना-त्रैमासिक, अंक 33/स. नामवर सिंह–पृष्ठ 19)

उपर्युक्त त्रैमासिक मे ही श्री काशीनाथ सिंह ने अपने लेख (विपक्ष का कवि धूमिल) मे स्व. धूमिल की कोर्ट कचहरी से सम्बद्धता के प्रमाण के रूप मे न्याय, न्यायालय और न्यायदान से सबधित लगभग एक सौ ऐसे शब्दो को भी उद्धृत किया है जिनका प्रयोग अकेले काव्यसग्रह 'ससद से सडक तक' की मात्र 25 कविताओ मे किया गया है। यह सब देखकर यही लगता है कि स्व. धूमिल की कविता कटघरे की कविता है। कवि और कटघरा, कटघरा और कवि इतने घनिष्ट है कि उन्हे (एक को दूसरे से) अलग कर सकना सभव ही नहीं लगता।

कुल मिला कर यही कह सकता हू कि स्व. धूमिल की कविताओ मे मुझे कई ऐसे तत्व विद्यमान मिले जिनको मैंने आज की स्थिति मे महत्वपूर्ण पाया है। इसीलिए बडी आस्था के साथ उक्त कवि को पढता रहा हू उसकी रचनाओ को आज के सदर्भों मे सोचता-समझता रहा हूँ। उसी सोच-समझ के परिचायक है आगामी पृष्ठ। आशा है मेरे मतो से सहमतो की अपेक्षा असहमतो की प्रतिक्रियाओ को जानने की इच्छा पूरी होगी।

— o—o —

द्वितीय अध्याय

आक्सीजन का कर्जदार हूँ...

धूमिल के चरित्र और व्यक्तित्व पर लिखना जितना मुश्किल है उतना ही आसान भी है। समकालीन कवि के जीवन-चरित को शब्दबद्ध करने की खास कठिनाइयां होती हैं। उसके जीवन के प्राय सभी सन्दर्भ सजीव और सक्रिय होते हैं। चरित्र लिखने वाले की साधारण-सी असावधानी भी विवाद प्रतिवादों का अवसर उत्पन्न कर सकती है। मैं उन लोगों के साहस की प्रशंसा करता हूँ जो अपने समकालीन किसी दिवंगत व्यक्तित्व की जीवनी लिखते हैं। उन लोगों के साहस की तो कोई सीमा ही नहीं जो अपने समकालीन और जीवित महान् व्यक्ति का चरित्र लिख लेते हैं। वस्तुत चरित्र लिखना ही कुछ कठिन कार्य इसलिए होता है कि चरित्रकार के मन में चरित्र-नायक के प्रति या तो अति श्रद्धा या अश्रद्धा का भाव ही तो उसके चरित्र लेखन में उदारता या अनुदारता का दोष अनिवार्यत उत्पन्न हो ही जाता है।

प्राचीन या मध्ययुगीन कवियों के चरित्र लिखने में मात्र यही आशंका बनी रहती है कि चरित्रकार से असहमत लोग उसकी कुछ बातों की आलोचना-कटु आलोचना करेंगे। उनकी असहमतियों को उनका अपना अपना मत मान कर पाठक सह जाते हैं क्योंकि हर कोई मानता है कि मुंड मुंड में मति अलग-अलग होती है। अपने समय के किसी प्रतिभाशाली कवि का चरित्र लिखते हुए कई जीवन्त सदर्भ छूट जाने की सम्भावना बराबर बनी रहती है। मैं यही समझता हूँ कि हर युग के किसी भी प्रतिभाशाली कलाकार के चरित्र और व्यक्तित्व पर उसके समकालीन प्रान्तेस्टों, सहयोगियों-सहकर्मियों से ही नहीं बल्कि मित्रों और शत्रुओं से भी बहुत लिखा जाता रहा तो उसकी कला को और अधिक अच्छी तरह समझने में सहायता हो सकती है। इस तरह का परिमाणात्मक साहित्य आज के कवियों के बारे में तो आवश्यक ही नहीं अनिवार्य लगता है क्योंकि आज का कवि अपने भोगे जीवन को जितने सीधे सच्चे ढंग से अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दे रहा है, किसी युग के कवि

ने आज तक शायद ही ऐसा किया हो। एकान्त वैयक्तिक अनुभूतियों के कारण दुरूह लगने वाली आज की कविताओं का कल्पना-पक्ष एवं भाव-सौन्दर्य कवि के जीवन को सूक्ष्मातिसूक्ष्मता के साथ समझे बिना उद्घाटित हो ही नहीं सकता।

कविताओं में एकान्त निजी अनुभूतियों को महत्त्व देने की आज के कवियों की प्रवृत्ति से एक बात अवश्य हुई है कि उनकी कविताओं के माध्यम से उनके रचयिता को समझने का सरल मार्ग खुला है। इसमें बस एक ही धोखा है—यदि किसी कल्पनाजन्य कविता को भूल से हम कवि की आत्मस्वीकृति मान बैठे या फिर किसी आत्म स्वीकृति वाली कविता की हमने गलत व्याख्या कर डाली तो कवि के चरित्र और व्यक्तित्व के प्रति हम अन्याय करने के दोषी होंगे।

उक्त प्रसंग मैंने हेतुत इसलिए छेड़ा है कि मुझे लगता है, धूमिल का चरित्र आज तक कुछ उपेक्षित-सा ही रहा है। जितनी सामग्री इस पर प्रकाशित होनी चाहिए थी नहीं हो सकी है। सयोगवश उसके परिचय की परिधि में अनेक प्रतिभा-सम्पन्न कवि और आलोचक रहे है। परिवार के लोगों मे भी उसके अनुज कन्हैया पाडेय जैसा लेखन-गुण सम्पन्न व्यक्ति विद्यमान है परन्तु फिर भी आज तक उक्त कवि के चरित्र पर प्रचुर मात्र में सामग्री प्रकाशित नहीं हो पायी है। इसके लिए सभवत वही आर्थिक अभाव का अभिशाप कारण रहा है जिसने स्वय कवि का जन्म से लेकर मृत्यु तक पीछा नहीं छोड़ा था। इसे तो विडम्बना ही समझनी चाहिए कि लक्ष्मीजी के वरद-हस्त के बिना किसी सरस्वती-पुत्र का उसके मरणोपरान्त भी उद्धार सभव नहीं हो सकता!

आज तक धूमिल के चरित्र और व्यक्तित्व पर जो कुछ छिट-पुट सामग्री छपी है और मुझे उपलब्ध हो सकी है उसके आधार पर उसके चरित्र एव व्यक्तित्व की रूप-रेखा इस तरह दी जा सकती है—

स्व० धूमिल का नाम था सुदामा प्रसाद पाडेय। पिता का नाम था प० शिवनायक पाडेय और माता का नाम रजवंशी देवी। सुदामा प्रसाद अपने पाचो भाइयों मे सबसे बड़ा था। काशी की विख्यात 'सुंघनी साहू की दुकान' के साथ प० शिवनायक पाडेय का सम्बन्ध था। वे वहाँ स्व० जयशंकर प्रसाद के पिताजी के मुनीम थे। किन्ही कारणों से उन्होंने उक्त नौकरी छोड़ी थी और एक देहात 'खेवली' में जा बसे थे। उनके भी और चार छोटे भाई थे। वह एक बड़ा परिवार उस देहात मे मुख्यत कृषि पर उपजीविका चलाता रहा। उस परिवार को सयुक्त बनाए रखने मे पहले तो स्व० शिवनायक पाडेय जी ने और बाद मे उन्ही के बडे पुत्र स्व० सुदामा प्रसाद 'धूमिल' ने बहुत ही त्यागमय और सहनशील भूमिकाएँ निभायीं।

परिवार में सबसे बडे भाई का सबसे बड़ा पुत्र होने से धूमिल को सभी से बहुत लाड प्यार मिलता रहा। उस लाड ने उसे बिगाड़ा नहीं बल्कि उसमें एक

गंभीर उत्तरदायित्व का बोध उत्पन्न किया। उसे सुसंस्कारित करने में उसकी स्नेहमयी माँ के साथ साथ थोड़ी बहुत शिक्षित परन्तु सुसंस्कृत विधवा चाची प्रभावती देवी जी की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। धूमिल जब मात्र ग्यारह वर्ष का था तो उसके पिताजी की कृपा का छत्र सदा के लिए उससे छिन गया। इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना ने तो धूमिल को और अधिक जिम्मेदार बनाया। अगले ही वर्ष उसके जीवन में दो महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी। एक तो उसका विवाह मूरतदेवी से सम्पन्न हुआ और दूसरे उसने जीवन की पहली तुकबन्दी कर डाली। विवाह के समय वह सातवीं कक्षा में पढ़ रहा था।

1953 अर्थात् आयु के पन्द्रहवें वर्ष में धूमिल ने हरहुआ के कूमि क्षत्रिय इन्टरमीजिएट कालेज से हाईस्कूल की परीक्षा पास की। उस परीक्षा में उसे दूसरी श्रेणी मिली। आज वही कालेज काशी कृषक इन्टर कालेज के नाम से जाना जाता है। हाईस्कूल की परीक्षा पास हो जाने के बाद धूमिल के जीवन में अनेक कठिनाइयाँ एक एक करके आने लगी। सबसे बड़ी समस्या थी कहीं नौकरी चाकरी करने की। आज की तरह आज से चतुर्थांश शती पहले भी हाईस्कूल की परीक्षा पास होने वालों को बड़ी मुश्किल से नौकरियाँ मिलती थी। जिसकी भी पहुँच किसी उच्च पदस्थ अफसर या राजनेता तक होती वह अपनों को कुछ नौकरियाँ दिला देता। एक छोटे-से देहात में कृषिकर्म पर उपजीविका चलाने वाले परिवार के पास कहाँ पहुँच कहाँ से होती? ऐसी स्थिति वाले परिवार के होनहारों के सामने बस एक ही विकल्प होता है—शहर में अपनी किस्मत आजमाने चले जाने का। धूमिल को भी यही करना पड़ा था। छोटे से कस्बे-देहात-का आदमी विशाल नगरी की जब डगर नापता है तो सबसे पहले उस नगरी में किसी परिचित को ढूँढ लेता है। वह परिचित खुद चाहे जितना असहाय हो उसी के सहारे मनुष्यों की सचारत्व भीड़ में अपना एक पैर ही सही उस नगरी की भूमि पर टिकाना चाहता है। इस परिचितों में यदि खून का रिश्ता निकल आए तो उसे ही सर्वोपरि महत्व दिया जाता है। परन्तु अधिकतर मामला में देखा यही जाता है कि रक्त के रिश्ते से दोस्ती का रिश्ता अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। धूमिल का अनुभव इसका अपवाद नहीं रहा। उसका एक रिश्तेदार मौसेरा भाई कलकत्ता में रहता था। वह उसके पास चला गया परन्तु जब उससे कुछ काम धन्धा खोजने में सहायता नहीं मिली तो उसे भारी निराशा हुई। कलकत्ता में ही उसका एक सहपाठी मित्र तारकनाथ पांडेय रहता था। वह उस मित्र के पास पहुँचा और कुछ दिन वहीं ठहरा परन्तु उससे भी रोजी रोटी जुटाने का कोई जरिया (साधन) खोजने में सहायता नहीं मिली। अन्तत धूमिल पहुँचा उसी के गाँव के निवासी श्री घीसन यादव के पास जो कलकत्ता में मजदूरी करते थे। यादव ने धूमिल को भी परिश्रम का काम दिला दिया—लोहे को ढोने का।

धूमिल को आजीविका के लिए लोहा ढोने का काम करना पड़ रहा है इस बात की खबर उसके सहपाठी-मित्र तारकानाथ को मिली तो वह तुरन्त जाकर अपने मित्र को अपने घर ले आया। तारकानाथ के बहनोई रामलखन पांडेय की सहायता से कलकत्ता की एक कम्पनी में धूमिल को नौकरी भी मिल गयी। कंपनी का नाम था 'मिसर्स तलवार ब्रदर्स प्राइवेट लिमिटेड'। काम था—लकड़ी का क्रय-विक्रय करना। उक्त कंपनी में 'पासिंग अफसर' का काम करते समय धूमिल को बीहड़ वनों में रहना पड़ा। वहाँ की जातियों का जीवन समीप से देखने का उसे अवसर मिला। वह नौकरी अधिक दिनों तक नहीं चल सकी। स्वास्थ्य के नर्म-गर्म होने से एक बार धूमिल कुछ दिनों तक काम करने नहीं जा सका तो कंपनी से तार भेजा कि 'कंपनी काम करने के लिए दाम देती है न कि स्वास्थ्य बनाने के लिए।' इससे धूमिल को चिढ़ हुई। उसने उत्तर दिया—'मैं अपने स्वास्थ्य के लिए काम करता हूँ न कि कंपनी के काम के लिए।' जो परिणाम होना था वह होकर रहा—धूमिल को कंपनी की सेवाओं से 'मुक्त' किया गया।

आजीविका कमाने के लिए कुछ करना आवश्यक था इसलिए धूमिल ने विद्युत प्रविधि का डिप्लोमा प्रशिक्षण पूरा किया। काशी हिंदू विश्वविद्यालय से संलग्न औद्योगिक प्रशिक्षण केन्द्र में उक्त प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम पूरा कर डाला। डिप्लोमा की परीक्षा में वह प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर गया। उसकी इसी योग्यता के कारण उसे तुरन्त (1958 में) विद्युत अनुदेशक की नौकरी मिली। उक्त पद पर 1963 तक वाराणसी में ही काम करने का अवसर मिला। 1963 में उसकी 'पर्यवेक्षक' के पद पर उन्नति हुई और बलिया की ओर स्थानान्तरण हुआ। बलिया में उसने बड़ी ही मुस्तैदी से काम किया जिससे उसे पुन: वाराणसी बुलाया गया। बिजली-विभाग के कर्मचारियों में बढ़ती उसकी प्रतिष्ठा और वाराणसी-वासियों में कविरूप में होती उसकी ख्याति से ऊँचे अधिकारियों का माथा ठनका। परिणामत: उसे सहारनपुर स्थानान्तरित किया गया। वाराणसी में और उस शहर के पास ही उसके परिवार के लोग रहते थे इसलिए उसे सहारनपुर में बहुत दिन रहना असुविधा-जनक लगा। बड़ी कोशिशों के बाद वह पुन: स्थानान्तरित होकर वाराणसी आने में सफल हो गया।

परिवार के भरण-पोषण के लिए अर्थार्जन की व्यस्तता धूमिल की ज्ञानार्जन की लालसा को दबा नहीं सकी थी। एक ओर तो नौकरी चाकरी के चक्कर में फँसा धूमिल दूसरी ओर शुद्ध हिन्दी सीखने का प्रयास करता रहा। उसे अपने प्रयास में सफलता भी मिलती गयी। अंग्रेजी के अपने अल्पज्ञान को उसने बड़ी लगन के साथ अच्छे ज्ञान में परिवर्तित कर डाला। कोशों के सहारे अंग्रेजी की श्रेष्ठ रचनाओं को समझने की वह कोशिश करता रहा। बोलचाल की अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त करने के

लिए उसने बनारस में रह रहे अंग्रेजी के कवियों से भी सम्पर्क बढ़ाया । इन कवियों में ही गिंसबर्ग का नाम लिया जाता रहा है । उच्च शिक्षा न लेने की त्रुटि को धूमिल ने अपनी लगन और प्रयासों से दूर करने में सफलता प्राप्त कर ली ।

1968 से 1974 का समय बिजली-विभाग में धूमिल की सेवाओं को रेखांकित करने वाला समय था । उन्हीं दिनों उसने बिजली विभाग के कर्मचारियों का प्रबल संगठन बनाया और श्रेष्ठ पदों पर काम करने वालों के भ्रष्टाचारों का पर्दाफाश कर डाला । इससे अधिकारियों का चिढ़ना तो एकदम स्वाभाविक था । अन्त उसे पुनः स्थानान्तरित कर सीतापुर भेजा गया । वहाँ पहुँच कर उसने लम्बी छुट्टी के लिए अर्जी भेज दी और वह वाराणसी में जाकर रहने लगा । वही स्थानान्तरण इस लोक का अंतिम स्थानान्तरण सिद्ध हुआ । वही लम्बी छुट्टी की अर्जी अन्तिम अर्जी सिद्ध हुई । वह घटना 1974 के सितम्बर-अक्तूबर की थी ।

1974 के अक्तूबर में धूमिल की बहुत दिनों से चली आ रही सिरदर्द की बीमारी असह्य पीड़ा के रूप में उभर आयी । वैद्यों हकीमों के घरेलू इलाज बेकार हुए । काशी विश्वविद्यालय के मेडिकल कालेज अस्पताल में उसे भर्ती किया गया । डाक्टरों ने उसकी बीमारी का निदान 'ब्रेन ट्यूमर' के रूप में किया । धूमिल के कई प्रभावशाली साहित्यिक मित्र काशी में रहते थे । उनकी भागदौड़ से अस्पताल में धूमिल को सभी तरह की सुविधाएँ मिलती रहीं परन्तु निष्ठुर नियति की इच्छा कुछ और ही थी । होनी को लाख प्रयासों के बावजूद टाला नहीं जा सका । आखिर 1975 की 10 फरवरी का वह दिन आया जिसकी गहराती रात ने उस संघर्षजीवी को हम सबसे छीन लिया । 'सारी उम्र चमकने की कोशिश में बिताने वाला उस रात के अंधेरे में हमेशा के लिए खो गया । व्यवस्था की जायी बीमारी ने भलमनसाहत और मासूम के बीच पड़े उस आत्मीजन के कलाकार को दबोच लिया ।

स्व. धूमिल की कुल जमा जोड़ जीवनकाल ही मात्र सवा अड़तीस वर्षों का रहा । उसमें नियति के उतार चढ़ाव चक्कर का कोई विस्मयकारी सिलसिला नहीं था । मध्यवर्ग के एक परिवार में उत्पन्न किसी भी साधारण शिक्षित स्वाभिमानी और जिम्मेदार व्यक्ति को अपने जीवन में जैसा कठोर संघर्ष करना पड़ता है, उसी तरह का संघर्ष धूमिल को भी करना पड़ा । परन्तु साधारण व्यक्ति मात्र पारिवारिक भरण पोषण के ध्येय के अतीतल प्रश्नों पर वायक्कर कोल्हू के चक्कर जीवन भर लगाता है और धूमिल जैसा असाधारण व्यक्ति खुली आँखों से अपने आसपास के दगता परखता है । अपनी वैयक्तिक और पारिवारिक विवशताओं के जुए को कंधे पर रखकर भी धूमिल ने अपने पारिवारिक स्थितियों को, उनकी वास्तविकताओं का समझने की जो कोशिश की है वही उसे असाधारण बना देती है । वही उसके व्यक्तित्व को औरों से अलग रूप में उभारती है ।

स्व० धूमिल का व्यक्तित्व कई विशेषताओं से भरा पड़ा है। उसे व्यक्तित्व की झलकियाँ आज तक उसके बारे में लिखे गये औरों के लेखों से और स्वयं उसी की कलम से लिखी गयी कविताओं, डायरी के पन्नों पत्रों और एकाध निबन्ध से मिलती हैं।

सबसे पहले स्व० धूमिल का बाह्य व्यक्तित्व लोगों को आकर्षित करता था। बचपन में वह काफी कमजोर था परन्तु उसके पितामह पं० विंध्येश्वरी पांडेय ने उसे अपने साथ अखाड़े में ले जाकर, लिटाकर मिट्टी से मालिश कर के बलिष्ठ बनाया था। बड़ा होने पर उसका बाहरी व्यक्तित्व कैसा दिखाई देता था, इस बारे में उन्हीं के अनुज कन्हैया पांडेय ने लिखा है—'वे सादा मिजाज थे, मगर गुदड़ी में ढांकने पर भी उनका तप्तकांत मुख, उन्नत नासा एवं प्रशस्त ललाट छिप नहीं सकता था। उन्हें एक बार देखकर आप आसानी से भुला नहीं सकते। साधारण हैंडलूम के सस्ते कपड़े का खुली बाँह का कुरता, धोती तथा पैरों में मामूली चमड़े की चप्पलों के साथ, उनके चेहरे की स्वाभाविक शान्ति एवं गंभीरता बहुधा उनके भीतर छिपी प्रतिभा को ढांकने का काम करती थीं किन्तु धधकते अंगारों की तरह चमकती बड़ी-बड़ी आंखों से निकलती किरणें सब का भंडा फोड़ देती थीं।'

लम्बा कद, हट्टा-कट्टा शरीर यह तो सिद्ध करता था कि उनमें बल है लेकिन शारीरिक बल उस मानसिक बल का परिचायक नहीं था, जो कि उस व्यक्ति में कूट-कूट कर भरा हुआ था। "कभी वे अपनी मूंछ बढ़ा लेते थे, तो चेहरा किसी को आकृष्ट किये बिना नहीं रहता था। कभी-कभी चोटी सहित सिर के बाल तथा मूँछ साफ। गोरे गोल चेहरे में कोई खास बात नहीं मालूम होती थी, खास करके जबकि वे कुछ बोलते न होते थे।"

(आलोचना—33 वां अंक पृ० 54–55)

धूमिल के शारीरिक बल का संकेत तो गोविंद उपाध्याय ने भी किया है। लिखते हैं—

> "धूमिल में कुल मिलाकर यह कहना होगा कि अद्भुत शक्ति थी—बौद्धिक तथा शारीरिक भी। खेवली गाँव में अपने घर से आई० टी० आई० के अपने कार्यालय तक कभी-कभी महीनों रोज साइकिल से आते जाते थे जो करीब बारह मील पड़ता है।" (आलोचना 33 वां अंक पृ० 67–68)

धूमिल के शारीरिक बल का परिचय तो उसके ब्रेन ट्यूमर की असह्य पीड़ा को कई दिनों तक सहने से भी मिलता है। कोई भी सामान्य बल वाला व्यक्ति मस्तिष्क की वैसी पीड़ा को उतने दिन बिना किसी से कुछ कहे सह ले यह सम्भव नहीं लगता।

धूमिल के आन्तरिक व्यक्तित्व के बारे में मक्खड, फक्कड और घुमक्कड जैसे परम्परागत शब्दों के सहारे कुछ भी कहना उसके प्रति अन्याय होगा। वस्तुत धूमिल की कविता जिस तरह पारम्परिक आलोचना के शब्दों में बाधी नहीं जा सकती, ठीक उसी तरह उसका व्यक्तित्व भी परंपरा से घिसे पिटे शब्दों से वर्णित नहीं हो सकता। शरीर बलसपन्न धूमिल उसकी कविताओं में भले ही वैचारिक दृष्टि से भी वीरभद्र के रूप में प्रकट हुवा हो परन्तु व्यवहार में वह नितान्त कठोर नहीं था। प्रसग विशेष पर किसी से किसी विषय पर मतभेद और वितडवाद होने पर उसे ललकारने के लिए कभी आस्तीनें चढा ली होंगी यह बात और है परन्तु उसकी प्रकृति कोमल ही थी, स्वभाव में सहनशीलता का गुण ही अधिक था अपने विशाल परिवार को पचास वर्षों तक इकठ्ठे रखने वाले किसी एक वृद्ध जपानी उस परिवार के मुखिया व्यक्ति से पत्रकारों ने एक बार अनुरोध किया था—'महाशय, इस विशाल परिवार को सयुक्त बनाये रखने का रहस्य आप हमें एक हजार शब्दों वाले एक लेख में बताइए।' उस मुखिया ने एक दिन का समय माँग लिया था और दूसरे दिन उसने कागज पर 'परिवार को सयुक्त बनाये रखने का रहस्य' शीर्षक के नीचे एक ही शब्द 'सहनशीलता' को हजार बार लिख डाला था। मतलब यही कि धूमिल में भी गजब की सहनशीलता थी तभी उसने अपने परिवार को सयुक्त बनाए रखने में सफलता पायी थी। परिवार को सयुक्त बनाये रखने का रहस्य धूमिल की दृष्टि में 'सबका एक चूल्हा और सबका एक जगह खाना' था। इस देश की ग्रामीण जनता की मानसिकता से जो थोडा सा भी परिचित हो उसे उक्त रहस्य की साथकता को समझते देर नहीं लगती। यह तो किसी भी सयुक्त परिवार की सर्वविदित बात है कि देवरानी या जठानी अपने पति से यौतुक रूप में प्राप्त गाय का दूध अपने बच्चों के सिवा और किसी को देना नहीं चाहती तो परिवार बिखरने की स्थिति में आ जाता है। सास किसी कारणवश अपने ही अनेक पुत्रों-पुत्र-वधुओं में से किसी एकाध के साथ खान-पान में पक्षपात बरतती है तो परिवार बिखराव की कगार पर पहुँचता है। परन्तु वह तब तक नहीं बिखरता जब तक उस परिवार के मुखिया की सहनशीलता समाप्त नहीं होती। देहाती सयुक्त परिवार के जीवन में इसीलिए खान-पान की समानता के प्रति अत्यधिक सतर्कता बरतना नितान्त आवश्यक होता है। इसी आवश्यकता को धूमिल ने जान लिया था। उसके द्वारा परिवार सयुक्त बनाये रखने के लिए किये गये प्रयासों का मार्मिक उद्घाटन करते हुवे उसके अनुज कन्हैया ने लिखा है —' 27 सदस्यों के इतने बड़े सयुक्त परिवार के लिए मालिक का सर्व प्रथम कर्तव्य अपने *पराये का भेद न करने का गुण उनमें कूट-कूट कर भरा हुआ था। उनमें स्वार्थ-*त्याग का भाव बहुत अधिक मात्रा में था। वे अपने बच्चों तथा अपनी पत्नी की, यहाँ तक कि अपने शरीर की भी चिन्ता नहीं करते थे।'

(आलोचना–33 का अक पृ० 53)

धूमिल अपने अनुजों के प्रति भी अत्यन्त उदार, दयाशील और करुण था। परिवार के सभी लड़के-लड़कियों के हित की उसे हमेशा चिन्ता रहती थी। लड़कों की पढ़ाई और लड़कियों को अच्छे घर में ब्याहने की बात वह सोचा करता था। परिवार की जिम्मेदारी और साहित्य के प्रति अनुराग के कारण वह बुरी आदतों में फँसने से बचा रहा। यह लिखा जा चुका है, उसके अनुज कन्हैया पाडेय द्वारा कि धूमिल को जुआ खेलने की आदतसी हो रही थी परन्तु कविता के प्रति लगाव ने उसे इस बुरी आदत से बचा लिया। मराठी के कवि ने लिखा था कि उसने कविताई के प्रेम में फँसकर क्या-क्या किया, कैसे-कैसे सुनहरे अवसर गवाये पढ़ाई के प्रति कैसी विमुखता स्वीकार की और इतना ही नहीं बल्कि शरद् पौर्णिमा की अर्द्धरात्रि की शीतल चांदनी में धर्मपत्नी की मृदुल-कोमल बाहों के मोहक पाश से मुक्त होकर, वह कविता की शरण में कैसे गया। ये बातें तो कविता के लिए कवि क्या और कितना कुछ कर सकता है ? इसका बोध कराती हैं। परन्तु कविता ने कवि के लिए आज तक क्या-क्या किया है ? यह प्रश्न विचारणीय रह जाता है। मैं समझता हूँ-अपने पहले ही अनुष्टुभ छन्द के मादक सौंदर्य और शैलीगत सौष्ठव के चमत्कारी समन्वय पर आदि कवि वाल्मीकि का अन्तःकरण ऐसा रीझा होगा कि उसे राहजनी को छोड़कर रचना की डगर पर चलने के लिए विवश होना पड़ा होगा। रचनात्मक सफलता का आकर्षण अनुपम होता है। इसी में धूमिल भी बंध गया। मैंने इसी अध्याय के अन्तर्गत धूमिल के विवाह और पहली तुकबंदी का एक ही वर्ष में होने का संकेत इसी हेतु से किया था कि यह कह सकूँ कि उक्त दोनों घटनाओं के बीच अन्तः सम्बन्ध है। उसका वैवाहिक जीवन पारिवारिक परिस्थितियों के कारण पूरी तरह शायद सन्तोषप्रद न रहा होगा। पारिवारिक परिस्थिति पर आर्थिक अभाव की छाया सदा मंडराती रही होगी ऐसी स्थिति में एक सुखी-समाधानी जीवनक्रम का निर्वाह सम्भव न रहा होगा तो इससे सहज ही कुंठाएँ, निराशा और खिन्नता बढ़ी होगी। परिणामतः जुआ उसे अपनी ओर आकर्षित कर गया होगा तो आश्चर्य की बात नहीं। जुए से आन्तरिक उद्वेग-व्यथा के खौलते लावे को कुछ क्षणों-घंटों-दिनों तक विस्मृति के भार के नीचे दबाया अवश्य जा सकता है परन्तु उसे निकाल बाहर नहीं किया जा सकता। यह काम कविता में ही सम्भव था। कविता के अन्तरिक्ष उद्दाम को बाहर निकालने का नुस्खा कवि के हाथ लगा होगा तो जुए की गिरफ्त से उसे मुक्ति मिली होगी। जुआ खेलने का व्यसन कैसे छूटा होगा ? इसका सरल उत्तर इन शब्दों में मिलता है—'साहित्यिक अभिरुचि उनमें बाल्यकाल में ही थी। पढ़ने का शौक व्यसन बन गया था। जीवन की तल्ख अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का माध्यम कविता में मिला। कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगीं, गोष्ठियों में सुनी जाने लगीं। थोड़े ही समय में साहित्य-क्षेत्र में उन्होंने अपना स्थान बना लिया।' (नया प्रतीक अप्रैल 1978 पृष्ठ—4)

यह जुए का प्रसग इस कारण कुछ अधिक लम्बा खिच गया है कि यह है अपने म विशिष्ट। वैसे आज तक हमने पढा-सुना है कि हिन्दी के गौरव गोस्वामी तुलसी को वासना से मुक्त करके भक्ति-भाव म ववने का अवसर उनकी सुयोग्य पत्नी रत्नावली ने उपलब्ध करा दिया था। अश्लीन साहित्य लिख कर लखपति होने की महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की निजी ललक को त्याग कर, नैतिकतावादी साहित्यिकयुग का प्रवतन करन की प्रेरणा उन्ह भी उनकी पत्नी स ही मिली थी। यह सभवत पहला प्रसग था कि एक जुआरी को साहित्य की आकषण-शक्ति ने कवि बना डाला।

स्व घूमिल को नाटक का शौक था। अभिनय-कला भी उसे अवगत थी। रामलीला को दखत देखत ऊबी जनता के मनोरजन क लिए बीच-बीच म वह नाटक प्रहसन प्रस्तुत किया करता था। ग्राम जनता और उसम भी साधारण वग कृपकों का होता है। कृपक श्रमजीवी होते हैं और जमीदारो के शोषण के शिकार। ऐसे पीडित लोगो का नेतृत्व मानो कवि के हाथ मे था। किसानो म उसका आदर था और उसम किसानो के प्रति सम्मान की भावना थी।

स्व घूमिल स्वभाव से निर्भीक निमम और स्पष्ट वक्ता था। उसका वह स्वभाव उसके लिए अनक बार परेशानियो का कारण भी बना। अन्याय और भ्रष्टाचार के प्रति उसके मन म स्थित चिढ और रोष मे भी उसकी नौकरी की राह म अनक बार सकट उठ खडे हुए। परन्तु उसने कभी किसी की पर्वाह नही की। इसी स्पष्टवादिता क कारण उसे कई बार स्थानान्तरित भी किया गया। एक बार तो नौकरी भी इसी स्पष्टवादिता ने छुडा दी। फिर भी अन्त तक वह धमराज युधिष्ठिर की 'नरो वा कुजरो वा' की नीति की शरण म कभी नही गया।

हमारे धमप्राण भारत के किसी भी विशिष्ट व्यक्तित्व द्वारा धम-कम सम्बन्धी मान्यताओं को अनदखी करना परम्परावादी मन को अखर सकता है। घूमिल का धम-सम्बन्धी धारणाओं का विचार करना अनावश्यक ही नहीं असगत भी है। हमारे साहित्य म जब कभी किसी की धार्मिकता-अधार्मिकता का विचार होता है, उसका सम्बन्ध बाह्याडम्बर से रहता है। घूमिल एक बुद्धिवादी और बुद्धिजीवी व्यक्तित्व था। उसके लिए किसी भी तरह की रूढिगत धार्मिकता अपने म बांध न सकी थी। इस प्रसग पर यह सोचना मेरे लिए ऊब और खीझ का विषय बना हुआ है कि घूमिल की जाति कौन थी? वण कौन था? इस खीझ का कारण एक प्रसग विशेष से सम्बन्ध है। मेरे सैकडो छात्रो म से कुछ उत्तर-प्रदेश के गुरुकुलो से स्नातक होकर यहाँ हमारे विभाग म एम ए पढने आये थे। ऐसे ही एक छात्र ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' के अध्ययन के समय अकस्मात् पूछा—"सर बता

यह सही है कि 'ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास' मे ब्राह्मण साहित्यिकों के नाम के पीछे पडित ग्रौर ब्राह्मणेतर साहित्यिकों के नाम के पीछे बाबू लिखा है ?" मैं उक्त प्रश्न का कोई उत्तर न दे सका था क्योंकि उस दृष्टि से मैंने शुक्ल जी का इतिहास पढा नही था, ग्रौर साहित्यिको की भी जाति-पाति ग्रलग-ग्रलग हो सकती है इस बात पर मैंने कभी विचार भी नहीं किया था।

वास्तव मे साहित्यिको की जाति-पाति ग्रौर जातिगत सस्कारो की चर्चा करना बेकार ही नही बल्कि बेमानी भी होना है। ग्रौरो से उसकी चर्चा करना खेद का विषय होता है ग्रौर स्वय साहित्यिक द्वारा ही उसकी चर्चा किया जाना तो मैं गह्य बात मानता हूँ। इसके पीछे मेरा एक तर्क रहा—रचनात्मक साहित्य भावाश्रित होता है। कल्पनाएँ उसका ग्राधार होती हैं। स्वानुभूतियाँ उसकी रीढ होती हैं। भाव ग्रौर कल्पना–तत्त्व को जाति-पाति ग्रौर धर्मसप्रदाय से सम्बद्ध करके देखना उसकी सवदेशीय ग्रौर सार्वकालिन सत्ता को ग्रस्वीकारना है। मनुष्य की प्राकृतिक एकता को विखडित करके देखना है। जहा तक स्वानुभूतियों का सम्बन्ध है, वे ग्रवश्य जाति-पाति ग्रौर धर्म-सप्रदायाश्रित समाज-रचना से प्रभावित होती है परन्तु सच्चा साहित्य वही होता है जो उक्त प्रभावो से ऊपर उठकर ग्रपनी ग्रनुभूतियो को मानवीय ग्रनुभूतियो के विशाल धरातल पर प्रतिष्ठित करने मे सफल होता है।

ग्राज के युग मे जाति धर्म ग्रौर सप्रदाय को किसी कवि के व्यक्तित्व–निर्माण मे सहायक समझना कम हास्यास्पद नही लगता। यदि हम सूक्ष्मता से विचार करेंगे तो यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति देखेंगे कि ग्राज शिक्षा के प्रचार के साथ साथ जाति-पातिगत भेद-भावना का विकास हो रहा है। व्यापक मानव-धर्म' मे सकीर्ण-जाति को ग्रधिक महत्त्व प्राप्त हुवा है। यह तो ऐसी ही घिनौनी बात लगती है जैसे समुद्र की उपेक्षा करके चहबच्चे को ही जीवन के स्रोत की महत्ता दी जा रही है। वैसे भी किसी कवि का कुल ग्रौर नदी का मूल न जानने की नसीहत बहुत पुरानी है। प्राचीन समय मे कवि का कुल इसलिए चर्चा का विषय नही माना जाता था कि श्रेष्ठ कवि प्राय तथाकथित प्रतिष्ठा से दूर के कुल मे उत्पन्न होते थे। ग्राज कवि का कुल, उसकी जाति-पाँति, धर्म-सप्रदाय को उसके चरित्र ग्रौर व्यक्तित्व की चर्चा मे स्थान देना इसलिए ग्रनावश्यक है कि ग्राज न तो पुराना धर्म-कर्म, वर्ण-व्यवस्था ग्रौर न ही सप्रदाय-निष्ठा ही बची है। यदि किसी कवि को किसी वर्ग मे रखना हो तो भी कोई बात नही बनती। इसकी विस्तृत चर्चा ग्रगले पृष्ठो मे किसी उपयुक्त ग्रवसर पर करूँगा। यहाँ प्रसग केवल धूमिल की धार्मिकता का है। उसके बारे मे केवल यही कहा जा सकता है कि वह कभी भी बडा धार्मिक नही रहा। जीवन को व्यवहार ग्रौर बौद्धिक की दृष्टि से देखने वाले किसी भी कलाकार

की किसी धर्म सम्प्रदाय के साथ प्रतिबद्धता हो सकती है, यही विश्वास करने योग्य बात नहीं लगती। धूमिल को यदि औरों से अलग किसी रूप में देखा ही जा सकता है तो बस इसी बात में कि उसमें क्षात्र तेज या बनिये की ऐसी व्यवहारिकता थी जो आत्मसम्मान को दाव पर लगाकर किसी समझौते पर उतरती नहीं थी और समाज के अन्तिम अर्थात उपेक्षित और पददलितों के प्रति उसके अंतःकरण में अपार सहानुभूति थी। श्रमजीवीयों की व्यथाओं को समझने की उसकी वृत्ति ने उसे एक व्यापक मानवीय गुण का आयाम दे रखा था। उसकी इसी उदार वृत्ति को रेखांकित करते हुए उसके अनुज कन्हैया ने लिखा है—

> वे धर्म के ढोंग में विश्वास नहीं करते थे। चोटी तथा जनेऊ धारण करना वे पसंद नहीं थे। हर बात में स्वतंत्र बुद्धि का इस्तेमाल करते थे। छुआछूत को वे नहीं मानते थे। मुसलमानों के घर का खाना खाने के लिए ईद के दिन घर पर खाना नहीं खाते थे। ईसाइयों के घर भी खाना खाने के लिए वे नहीं हिचकते नहीं थे। चमार तथा ब्राह्मण उनके लिए बराबर थे बल्कि ईमानदार तथा मेहनतकश उनके लिए बेईमान तथा दूसरों की कमाई पर जीने वाले ब्राह्मण से कई लाख गुना अच्छा था। उन्हें मानवतावाद अच्छा लगता था, वे देखने में एक साधारण आदमी जान पड़ते थे। साधारण-से साधारण लोगों में बैठ कर ऐसे घुलमिलकर बात करने लगते थे कि लोग विश्वास करने लगते थे कि वे उनमें ही से एक हैं। सचमुच ही एक नये ढंग के नेता थे जिनका स्थान लोगों के ऊपर उनसे दूर नहीं बल्कि उनके भीतर अत्यन्त नजदीक है। (आलोचना 33–पृ 55)

स्व धूमिल के व्यक्तित्व की चर्चा के प्रसंग में उसके स्वभाव में ईश होने की ओर उसका देहात से जीवन्त संपर्क होने की बात की जाती है। यदि ईश की परिणति साहस हो और देहात से जीवन्त संपर्क का प्रमाण कवि का ग्राम-बोध हो तो उक्त दोनों व्यक्तित्व विशेषों के और अधिक विस्तार की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं रहती। धूमिल का अपने मित्रों के साथ का व्यवहार भी बड़ा निश्छल और खुला था। औपचारिता की आड़ में मित्रत्व के विरोधी व्यवहार को बनाए रखना उसका स्वभाव ही नहीं था। उसके अपने मित्रों को लिखी चिट्ठियों से यह बात भलीभाँति प्रकट होती है।

कभी किसी को मित्र मान लेने पर उससे अपने व्यक्तिगत काम करवाने में धूमिल संकोच नहीं करता था। आखिर व्यक्ति का अन्तिम भरोसा मित्र में ही होता है। एक बड़ी सार्थक कहावत इधर प्रचलित है— ग्राम का बाप, निराश की माँ होने की बहन और निदान का दोस्त! जब खून के रिश्ते भी कुछ काम नहीं आते तो दोस्ती का रिश्ता काम देता है। अपने एक मित्र विनोद भारद्वाज को लिखे पत्र

में धूमिल के कई स्वभाव-विशेष स्पष्ट हुवे हैं। स्थानान्तरण के बाद कुछ औपचारिकताओं की पूर्ति न होने से उसका वेतन पाँच महीनों तक रुका तो अपनी दिक्कतें उसने मित्र को लिखी और औपचारिकताओं को पूरा करने के निर्देश दिये। अन्त में लिखा—

'पुनश्च इस कष्ट के लिए अतिरिक्त आभार प्रदर्शन केवल समसामयिकता की खुराक साबित होगा। आप को अपने से अलग न समझते हुवे यह काम सौंप रहा हूँ।" (आलोचना 33 वा अक पृ 36)

धूमिल व्यक्तिगत दुख-सुख से सारी जनता के दुख-सुख को जानने-समझने का आदी था। यह एक ऐसा स्वभाव-विशेष है जिसे चाहो तो भला कह लो, चाहो तो बुरा भी समझ लो। पिंड मे ब्रह्माड देखने की कल्पना अध्यात्म के लिए तो ठीक है परन्तु साहित्य के लिए ठीक नहीं पडती। वैसे रचनात्मक साहित्य के समीक्षक भी स्वानुभूति का सिक्का उछालते हैं परन्तु किसी साहित्य की श्रेष्ठता की वही एकमात्र कसोटी हो नही सकती। वस्तुत स्वानुभूतियाँ हमारे अपने जीवनदर्शन और दृष्टिकोण का परिपाक होती हैं इसलिए उनकी सार्वजनिकता सन्देह से परे नहीं सकती। एक प्रसग याद आता है—एक दिन की बात है। मेरे एक बडे भाई मुझसे कहने लगे 'कालेज के छात्रो मे नैतिकता बिलकुल नही बची है। देश का भविष्य निपट अधकारमय है। वह नहीं सकते कि हमारा यह सामाजिक पतन हमे किस बुरी हालत पहुँचाने वाला है। मैंने उनके इस मूल्य और नैतिकता-बोध का तात्कालिक कारण जानना चाहा तो पता चला कि पहले दिन कालेज की 'गैदरिंग' की 'पार्टी' मे वे जब भोजन कर रहे थे तो किसी छात्र ने उनकी साइकिल की हवा निकाल दी थी। परिणामत उन्हें तीन किलोमीटर तक पैदल चल कर घर पहुचना पडा था। यदि कोई बुद्धिजीवी ऐसी ही छोटी-मोटी घटनाओं से सामाजिक स्थिति के बारे मे बडे-बडे निष्कर्ष निकाले तो नि संदेह रूप से उनमे वह प्रामाणिकता नही हो सकती जिसे आलोचक व्यष्टि के सुख-दुखो को समष्टि के सुख-दुखो के स्तर तक पहुचाने और उदात्त बनाने की बडी-बडी बातें करके स्थापित करते रहते हैं। धूमिल को अपना स्थानान्तरण रुकवाने मे जब असफलता का मुँह देखना पडा तो उसने एक मित्र को लिखे पत्र मे टिप्पणी जोड दी—'कोई नियम कानून नहीं। प्रजातत्र की यही परिणति होती है शायद।" और अपने को पुन काशी स्थानान्तरित करवाने की आवश्यकता बताते हुए उसी मित्र को उसने लिखा—'मेरा तुमसे स्पष्ट अनुरोध है कि व्यक्तिगत स्तर पर तुरन्त और आवश्यक प्रयत्न करके जनता का हित साधो।' उक्त उद्धरणो पर कोई टिप्पणी करने की आवश्यकता नही है। केवल यही जोड देना पर्याप्त है कि धूमिल स्वय को जनता का प्रतिनिधि कवि मानता था। अपनी निजी अनुभूतियो से समूचे समाज की अनुभूतियो को पहचानता था। उसकी इस आदत ने उसकी कविता का मोल बढाया या घटाया ? इस प्रश्न पर विचार मैं आगामी किसी उचित प्रसग पर करना चाहूँगा।

'कल सुनना मुझे' की प्रस्तावना मे विद्यानिवास मिश्रजी ने एक बात बडी मार्के की बतायी है। उन्होने लिखा है कि धूमिल का व्यवहार उनके प्रति नम्र था। उसका कारण उनका आयु मे बडा होना ही था। बडी आयु के लोगो के साथ विनम्र व्यवहार करने की हमारी देहाती सभ्यता है। इससे केवल यही देखा जा सकता है कि आयु के रूप मे काल की महत्ता स्वीकृत है। समय मनुष्य की अनुभूतियो को समृद्ध बनाने वाला सर्वोपरि तत्त्व है। पठन-पाठन की अपेक्षा स्वानुभूतियाँ मनुष्य को अधिक विचारशील और विवेकी बनाती हैं। धूमिल द्वारा बडो के साथ आदर का व्यवहार किया जाना उसकी देहाती सभ्यता और संस्कृति के साथ अटूट रूप से जुडने का ही प्रमाण माना जा सकता है वैसे उसका व्यवहार अपने जिन मित्रो के साथ सवेरे कडाई का तो उन्ही के साथ शाम मे नरमी का रहता था, जो कवि के सरल हृदय का परिचायक था। कभी किसी छोटी-मोटी बात को लेकर उभरे मतभेद को कई दिनो तक आपसी बोलचाल को बन्द रखने का आधार बना लेना उसकी प्रकृति नही थी। उसकी स्पष्टवादिता से, जैसा कि अनिवार्यत होता ही है उसके कई अहित चिंतक भी उत्पन्न हुए हो तो आश्चर्य नही। अपने मत, अपने विचार और धारणाओं पर अटल रहने वाले धूमिल को *शायद ही किसी से शत्रुत्व उत्पन्न होने का भय रहा हो।*

धूमिल के बारे मे एक ऐसी बात और कही जाती है जिसका सम्बन्ध उसके व्यक्तित्व से है। वह जब एकान्त मे, एक दो लोगो के साथ बातें करता था तब उसके लहजे मे नरमी और नम्रता होती थी। परन्तु ज्यों ही वह किसी सार्वजनिक स्थान पर और अनेक लोगो मे होता तो उसकी बातो मे तेजी तल्खी और आवाज मे दहाड आ जाती। उसका रूप आक्रामक हो जाता। उसकी इस आदत के पीछे उसका अटूट आत्मविश्वास ही तो कारणीभूत था। उसका यही आत्मविश्वास उसकी अनेक कविताओं मे प्रकट हुआ है।

वस्तुत आज के कवि का व्यक्तित्व उसकी रचनाओं मे भी बहुत बार और साफ तौर पर प्रतिबिंबित होता है। इसे हम आत्मसाक्ष्य समझ कर विचार करें तो धूमिल का व्यक्तित्व कुछ इस तरह चित्रित किया जा सकता है—

धूमिल को कवि बनाने वाली कोई विवशता थी, जिसे उसने अपनी लम्बी कविता 'पटकथा' मे संकेत रूप मे कह दिया है। 'पटकथा' कवि के चरित्र, चारित्र्य और समसामयिकता का प्रलेखा मात्र है। यहाँ प्रसग उसमे अभिव्यक्ति कवि व्यक्तित्व का संकेत करने का है। प्रारंभ मे ही उसने लिखा है—

> 'मैं जब बाहर आया
> मेरे हाथो मे

एक कविता थी और दिमाग मे
आँतो का एक्स रे ।'

(स० 107)

इस तरह कवि बनने की विवशता का उसने यह कह कर संकेत दिया—

'औरतो के लिए गैर जरूरी होने के बाद अपनी ऊबका
दूसरा समाधान ढूंढना जरूरी है ।

(स० 107)

और इसी समाधान के रूप मे कवि-कर्म को उसने अपना लिया । उसे कवि होने का समाधान इसलिए हुवा कि—

'मैंने सोचा और सस्कार के
वर्जित इलाकों मे अपनी आदतो का शिकार
होने से पहले ही
बाहर चला आया'

(स० 107)

इस तरह धूमिल का 'बाहर आना' द्विस्तरीय दिखायी देता है । पहली बार व्यक्तिगत जीवन-क्रम की चिन्ताओ की गर्त से बाहर निकल आते हुवे उसकी कवित्व की शक्ति उसका सबल बनी और दूसरी बार बुरी आदतो की दलदल मे फँसने से बाल-बाल बचने के लिए उसको वर्जित इलाको से बाहर आना पड़ा है । यह वर्जित इलाका क्या है ? कवि के अपने सस्कार क्या थे ? ये प्रश्न विवादग्र बन कर उभर सकते हैं परन्तु इनसे एक आशका अवश्य सच सिद्ध होती है—कवि का व्यक्तित्व उतना खुला नही था जितना कि उसे माना जाता है । जब कविता की लाठी थाम कर कवि वर्जनाओं के इलाके से बाहर निकला तो उसके सामने एक ऐसा रास्ता था जो अपने समय की एक-से-एक विकराल निजी और सार्वजनिक समस्याओ से पट पड़ा था । उस रास्ते की यात्रा का वर्णन ही उक्त कविता का केन्द्रीभूत भाव दिखाई देता है । इस वर्णन मे स्पष्ट होने वाला कवि का दृष्टिकोण उसके वैचारिक और भावात्मक व्यक्तित्व को उजागर करता है । पहले अपने परिवेश के प्रति आस्थावान् होना, राजनीति, जनतत्रादि मे विश्वासी होना, बाद में कुछ विशेष रूप से घटी घटनाओ के कारण उक्त आस्था और विश्वास को खो बैठना, अपने परिवेश के प्रति कटु (आलोचना) भाव से भर जाना आदि ऐसे स्वाभाविक परिवर्तन हैं जो कवि के व्यक्तित्व-विशेष के परिचायक बने हुए हैं परन्तु इनकी चर्चा कविताओ के वैचारिक और भाव-पक्ष के सन्दर्भ मे समुचित होगी ।

जहाँ तक स्वभावगत विशेषताओं की बात है, धूमिल अपने को जनसाधारण से अधिक समीप समझता था, घर गृहस्थी मे रहकर भी उसके मोह मे फँसा नहीं लगता था, अन्याय–अत्याचार के विरोध मे खड़ा रहने के लिए सदैव तत्पर रहता था, अपने समय की व्यवस्था मे अनास्थावान होकर भी व्यवस्थाहीन समाज के सपने देखने वाला नही था जीवन के कुरूप पक्ष के सड़े-गले शव को सरे ग्राम चौराहे पर लटकाने वाला होकर भी जीवन के सौंदय का भजन करने का पक्षपाती नही था और कविता मे विरोधियो के साथ के व्यवहार मे वज्र-सा कठोर लगने वाला अविरोधियो के साथ निजी जीवन मे और पारिवारिक जीवन मे फूल-सा कोमल भी हो जाता था। धूमिल के अन्त करण की व्यथा और उदासी के व्यूह को भेद कर उसके अन्त करण मे जिजीविषा और मानव-सुलभ आशा उत्पन्न करने की शक्ति बच्चों की हँसी मे थी। उसने लिखा था—

"चालाक गिलहरियो का पीछा करती हुई दुध मुँही तिनी
(मेरी बच्ची) किलक उठी है
मैं चौंक पड़ता हूँ—
नहीं—इन दिनो बात-बात पर
इस तरह उदास होना
ठीक नहीं है
मैं देखता हूँ—मुझे बरजती हुई
उसके चेहरे पर खुली हँसी है—
जिसमे एक भी दाँत
शरीक नहीं है।"

(कल सुनना मुझे/पृ० 76–77)

परतु इस 'तिनी' को धूमिल के मोह का प्रतीक नहीं माना जा सकता। उसने तो यह भी लिखा था—

"न मैंने
न तुमने
ये सभी बच्चे
हमारी मुलाकातों ने जने हैं।
हम दोनों तो केवल
इन अबोध जन्मो के
माध्यम बने हैं।"

(कल 51)

धूमिल की रचनाओं में एक ऐसा कवि-रूप उभरता है जो यथार्थ की कटुता के हलाहल को पचाकर भी अमृतमय भविष्य में अपनी आस्था का संकेत देने से चूकता नहीं। अपनी पारिवारिक विपन्नता से उपजे भूख के संकट को उसने कई बार शब्द-रूप दे दिया है। ऐसे प्रसंगों पर उसकी बौद्धिकता एक ओर उसे सामाजिक विषमता के प्रति कठोर रूप धारण करने पर उकसाती रहती है तो दूसरी ओर भावुकता उसे कुछ मृदु बना देती है। वह लिख जाता है—

"भूख ने उन्हें जानवर कर दिया है
संशय ने उन्हें आग्रहों से भर दिया है
फिर भी वह अपने हैं
अपने हैं
अपने हैं
जीवित भविष्य के सुन्दरतम सपने हैं।"

(स० 133)

इसे कोई धूमिल के अन्तर्द्वन्द्व का प्रमाण भले ही कहे मैं इसे बौद्धिकता पर भावुकता की निर्भ्रान्त विजय का क्षण समझता हूँ। इसे घोर अनास्था की दलदल में खिले जीवन-मूल्य के प्रति श्रद्धा का कमल मानता हूँ। वस्तुत धूमिल की कविताओं के और जीवन के मूल्य अभिन्न रूप रहे हैं। इनकी चर्चा किसी और समुचित प्रसंग पर करूँगा।

धूमिल को एक शिकायत रही थी कि उसकी कविता को कोई भी ठीक संदर्भ में समझ नहीं पाता। उसकी उक्त शिकायत को निरर्थक नहीं कहा जा सकता। जैसे उसके जीवन और व्यक्तित्व को, और तो और, उसके परिवार के लोग भी ठीक तरह से नहीं समझ सके थे, वैसे ही उसकी कविताओं के बारे में भी हुआ है। एक चिट्ठी में धूमिल ने अपने एक मित्र को लिखा था कि उसके परिवार के लोग उसे 'आदमी बनाने' पर तुले हैं। पारिवारिकों की बात छोड़िए उसे अपने समय के पत्रों-पत्रिकाओं, कविता-संकलनों में हुई उपेक्षा भी खलती थी। वह किसी पत्रिका में अपनी रचना के न छपने पर नाराज होता या और किसी संकलन में अपनी कविता को न देख कर उसे रद्दी घोषित करने से बिलकुल नहीं हिचकिचाता था। उसका यह 'अस्तित्वबोध' हमें कुछ अनोखा और कुछ-कुछ बेतुका भी लगने की संभावना इसलिए है क्योंकि हमने तो प्राचीन के उस कवि को आदर्श माना है जिसने यह आत्मविश्वास प्रकट किया था कि पृथ्वी विपुल है, काल अनन्त है, कहीं-न-कहीं, कभी-न-कभी, कोई-न-कोई तो मेरी कविताओं का मोल समझने वाला अवश्य उत्पन्न होगा।' महाकवि भवभूति की उक्त धारणा में अपनी कविता की श्रेष्ठता में अटूट आत्मविश्वास और धैर्य था। धूमिल में पहला गुण—अपनी कविताओं की श्रेष्ठता

में अटूट आत्मविश्वास—तो अवश्य था परन्तु दूसरे का अभाव था। इसी कारण वह समकालिनों की उपेक्षा को सह नहीं पाता था। उसके स्वभाव की इस कमजोरी ने उसे कई बार अन्तर्द्वन्द्वों में उलझाकर रखा था। एक ओर वह यह भी कहता था कि 'कविता किसी से सहानुभूति नहीं मांगती।' और 'कविता के लिए पाठक की संवेदना और सहानुभूति उसी तरह घातक है जिस तरह बिजली के धक्के से होश खोते आदमी को पानी पिलाना।' दूसरी ओर वह अपने को किसी गोष्ठी में आमंत्रित नहीं किया जाना या आजके प्रतिनिधि कवियों में उसका उल्लेख न किया जाना, अपमान समझता था। यह धारणागत विपरीतता स्वाभाविक लगती है। इसमें उसका कोई दोष था सो बात नहीं है। कलाकार के लिए उसकी 'उपेक्षा' सर्वाधिक कष्टकारी अनुभूति होती है। पाठक की संवेदना को कविता के लिए घातक मानने वाला धूमिल पाठक से स्तुति सुमनों को भी नहीं चाहता था। वह तो बस केवल यही सोचता था कि 'कविता में (पाठक की) साझेदारी ज्यादा सही है। और हो सके तो एक आवेगहीन शब्द शाबाश। अतः स्पष्ट है, शाबाशी उसकी दृष्टि में आवश्यक भी नहीं थी। 'चर्चाओं में रहना' उसे अवश्य आवश्यक लगता था जो यश' के प्रति मानव के चिर-आकर्षण का सहज गुण था।

धूमिल के स्वभाव में एक अजीब प्रकार की स्पष्टवादिता थी। हर विषय पर निर्द्वन्द्व और निभ्रान्त धारणा उसकी विशेषोल्लेखनीय वृत्ति थी। केवल सैद्धान्तिक विषयों की ही बात नहीं, व्यक्तित्वों के बारे में भी उसकी धारणाओं में कोई दुविधा की स्थिति नहीं दिखायी देती। अपने समय के जिन जिन नये पुराने प्रतिष्ठित और और प्रतिष्ठित होने के लिए प्रयत्नशील रचनाकारों को उसने देखा, सुना और उनसे संपर्क किया, हर किसी के बारे में अपनी दृढ़ धारणा बना ली। यह आवश्यक नहीं कि उसकी सभी धारणाएँ हमेशा ही सभी को स्वीकार्य-सी रही बल्कि इसमें विपरीत स्थिति थी। उसकी कई धारणाओं से बहुत कम लोग सहमत हो सकते थे। इसका मतलब यह भी नहीं था कि धूमिल की किसी रचनाकार और रचना के बारे में सभी धारणाएँ पूर्वाग्रह दूषित और भ्रान्तिपूर्ण होती थी, इसलिए अस्वीकार्य होती थी बल्कि वास्तविकता यह है कि उसकी अनेक धारणाएँ कटु (सत्य पर आधारित) होने से उन्हें सामान्य लोग गले के नीचे सहज ही नहीं उतार सकते थे। उसने नागार्जुन की कविता को 'हाय-ही-हाय' बताया। अज्ञेय की प्रेमिकाओं को 'निराकार प्यास, लेखक मन की प्रतिमाएँ, अस्तित्व न रखने वाली' कहा। राजकमल की कविता में 'पारिवेशिक ममसामयिकता' और 'रूमानी आवेग की विभ्रान्ति' खोजी। त्रिलोचन को 'अपनी कविता में एक बड़ी पाई' बताया। 'गाँधी औसत हिन्दुस्तानी के लिए वरदान के समान थे।' माना। 'नेपाली कवि श्रीपायग पाडे की कविताएँ, आस्था में गहरी जड़ धँसी कविताएँ।' कह दिया 'मुक्तिबोध

की भाषा किसी पुरानी पोस्ता खडहर की दीवार सरीखी है' घोषित किया। 'कंचनकुमार, अपने लिए, प्रतिवाद के स्तर पर गूंगा मालूम पडता है' की टिप्पणी की। 'रघुवीर सहाय और श्रीकान्त वर्मा की अधिकाश कविताएँ ऐसा ही चमत्कार हैं' का फतवा दिया। केदारनाथ सिंह ने कोई नयी भाषा नहीं दी, सिर्फ नये लोगो कवियों) की चुनी हुई भाषा के क्रम मे आ गये हैं' कहा। 'वत्स स्पष्ट को स्पष्ट बोलता है।' कह कर दोष ढूँढा। और 'महादेवी वर्मा अच्छा बोलती हैं मगर बहुत किताबी और पुरानी बोलती हैं। मुरदाइन जैसा' अपना मत दिया।

उक्त उद्धरणो को धूमिल की डायरी मे देखा जा सकता है। उनमे स्पष्ट हुई उसकी धारणाएँ कितनी स्वीकार्य और कितनी अस्वीकार्य हैं, यह हर किसी के अपने-अपने मत पर तय हो सकता है। इस प्रसग मे डायरी के पृष्ठों के बारे म एक मत यह जोडना अनुचित नहीं होगा कि डायरी को आत्मपरीक्षणार्थ लिखने की साधारण धारणा को धूमिल ने कुछ गौण मान लिया-सा लगता है। वैसे वह अपने समसामयिकों क 'परीक्षण' डायरी मे कर गया यह बात सही है परन्तु किसी भी पृष्ठ पर उसका अपना आत्मनिरीक्षण शायद ही दिखायी देता है, यह बात अवश्य ही अजीब-सी लगती है।

डायरी के पृष्ठो म अभिव्यक्त धूमिल का व्यक्तित्व और दैनंदिन आचरण से स्पष्ट होने वाले व्यक्तित्व मे कोई व्यावहारिक विरोधाभास नही था। जो स्पष्टता डायरी के पृष्ठ पर अकित हो सकती थी वही--या सभवत उससे अधिक--स्पष्टता उसकी बातचीत मे भी थी। कविता, व्यवहार और डायरी मे भी धूमिल के व्यक्तित्व की एकरूपता इस बात का प्रमाण है कि वह जैसा भीतर था वैसा ही बाहर भी था। उसके विचार उच्चार और व्यवहार मे कोई परस्पर विरोध नहीं दिखायी देता था।

अन्तत धूमिल के व्यक्तित्व का एक और पहलू मेरा ध्यान आकर्षित करता है। उसका आकस्मिक निधन जिन स्थितियो मे हुआ उनसे उसके एक और स्वभाव-विशेष का हमे परिचय मिलता है। उसकी जिजिविषा की किन शब्दों मे अद्भुतता बखानी जाय, सूझता नहीं। मृत्यु-शैय्या पर पडे-पडे कविताएँ लिखना अद्भुत जिजिविषा, बौद्धिक सन्तुलन का कमाल और सृजन के प्रति अपार लगाव का परिचायक कहा जा सकता है। ब्रेन-ट्यूमर जैसा असह्य कायिक पीडा देने वाली भयकर बीमारी का शिकार, अपनी अन्तिम सास लेने से मात्र तीन सप्ताह पहले बिस्तर मे पडे-पडे कविता की सार्थकता को समझने की कुंजी इन शब्दो मे हमारे हाथो मे थमा जाता है--

अक्षरो के बीच गिरे हुये
आदमी को पढो'

स्व० धूमिल की मृत्यु पर राजशेखर ने लिखा है— हम में से कौन जानता था— हरिश्चन्द्र घाट के किनारे खड़े नौजवान बरगद के मजबूत तने-सा धूमिल का चौड़ा कंधा अकस्मात हमारी बगल से गायब हो जायगा और सीने में उसकी मौत का तल्ख एहसास लिए हुवे हम मेवली की यात्रा करनी होगी।

(कल 1)

किसी भी नौजवान की मौत हमें दहला देती है। जीर्णशीर्ण का अन्त हमें लोगों में समाधान उत्पन्न कर देता है तो युवा व्यक्ति की मृत्यु बेहद तल्खी उत्पन्न कर देती है। परन्तु मृत्यु के आगे किसी का कोई वश नहीं चलता। किसी आकस्मिक दुघटना में किसी आयु वाले को मौत उठा ले जाती है तो हम में एक अजीब-सी बेबसी का भाव उत्पन्न होता है परन्तु हम यदि किसी को मौत से जूझते हुवे दम तोड़ता देखते हैं तो मन अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाली बेचैनी अपनी तरह की होती है। यदि कोई युवा व्यक्ति पारिवारिक अभावों से मोर्चा लेता हुआ और अपनी भ्रष्ट व्यवस्था से लड़ता हुआ मृत्यु के अकस्मात आक्रमण का शिकार हो तो उसे दम तोड़ता देखना साहस का काम होता है। जो भी हो मनुष्य मृत्यु पर विजय पाने की अपनी असमर्थता के एहसास के बावजूद न जीवन-संघर्ष से मुँह तोड़ता है और न ही उसकी जिजीविषा पर कोई आँच आती है। किसी होनहार नौजवान की मौत का दुख कुछ क्षणों के लिए उसे देखने वालों में श्मशान वैराग्य उत्पन्न करता है। वह अल्पकालिक विरक्ति होती है। परंतु धूमिल की मृत्यु इस कारण बड़ी दीर्घकालिक व्यथा का कारण बनी कि हिन्दी-कविता का एक विद्रोही रचनाकार बहुत ही असमय में हमसे उठ गया। दूसरी आजादी का देखने का सौभाग्य भोगने और अपनी कविता के लिए पुनः 'तीसरे प्रजातन्त्र' की तलाश की मजबूरी को झेलने के लिए वह हम में न रहा।

धूमिल तो चला गया परन्तु उसकी कविताएँ हमारे पास हैं। उसका वैचारिक और भाव-व्यक्तित्व हमारे पास है। उस व्यक्तित्व के प्रभाव के आलोक में हम सही राह को खोज सकते हैं। समकालीन समाज में मानव मूल्यों के पतन की बात करते-करते नये मूल्यों के निर्माण की उसने अनिवार्यता हमें जता दी है। शहरी आधुनिकता की नाक में आने पर उत्पन्न हो सकने वाले सकटों की ओर संकेत करके मिट्टी से रिश्ता बनाये रखने को प्रकट रूप से आवाहन किया है। सामन्ती नारेबाजी पर चलने वाले जनतंत्र का कलई खोल कर सच्चे जनतंत्र की याद दिलाने की प्रबलता के प्रति हमें सजग किया है। व्यक्ति स्तर पर भीड़ में खोने वाली सभ्यता से भिन्न बात आत्महीनता के अभिप्राय को समझकर पचाकर अपने अस्तित्व की रक्षा की राह वह हमें बता गया है। समूची भ्रष्ट और विकराल अव्यवस्था के साथ निहत्था जूझ सकने का आत्मबल वह दे गया है। उसने हिन्दी-कविता को

कचहरी और राजनीति की शब्दावली से समृद्ध कर रखा है। उसने अभावग्रस्त गृहस्थी के भाव-समृद्ध चित्र प्रस्तुत किये हैं। इतनी कम उम्र में और अपनी इतनी कम रचनाओं में उसने कितने कुछ प्रभाव हिन्दी-कविता के क्षेत्र में पीछे छोड़ रखे हैं। यह सब देखकर आश्चर्य होता है। इस महत्कार्य के लिए उसका खुला दिमाग, निर्भीक वृत्ति और निर्दोष वैज्ञानिक दृष्टि प्रेरक बनी है। उसका असमय में ही हम लोगों से सदा-सदा के लिए उठ जाना 'कभी पूरी न हो सकने वाली हानि' जैसे औपचारिक शब्द प्रयोग को भी कितनी गहरी सार्थकता दे गया है!

तृतीय अध्याय

(चीजों) 'का सही बोध ही मेरी रचना का धर्म है।'

एक गंभीर विषय का आरम्भ एक मनोरंजक प्रसंग से करना चाहता हूँ। कहते हैं कि कहीं नव चित्र प्रदर्शनी लगी थी। उसकी विशेष बात यह थी कि उसमें रखे गये हर चित्र का चितेरा जीवित था और उस प्रदर्शनी में रखे चित्रों के भाव-पक्ष को दर्शकों पर स्पष्ट करने के लिए वहां स्वयं उपस्थित था। एक युवा जोड़ा एक चित्र के पास पहुँचा। चित्र कुछ ऐसा था कि मानो एक लम्बा साँप सफ़री पिटारी में गडुरी मार कर बैठा हो। उसकी न पूँछ का पता न मुँह का पता चलता हो। चित्रकार ने दर्शक-दम्पति को उक्त चित्र के पीछे निहित अपनी भावना को आध घण्टे तक समझाया। यह आज के हमारे सत्रास भरे जीवन का प्रतीक है। हमारा जीवन, जिसका कोई छोर स्पष्ट नहीं है अपने में ही ऐसा गुत्थम गुत्था है कि उसे समझ सकना भी संभव नहीं रहा है। धवल कैनवास पर कुछ-कुछ लालिमा ली हुई यह आकृति एक प्रतीकात्मक रचना है। आदि न जाने चित्रकार क्या-क्या कहता रहता था। उसका वक्तव्य सुनकर जब उस चित्र से आगे के और चित्रों को देखने के लिये उक्त पति-पत्नी कुछ आगे बढ़ गये तो पत्नी ने बड़ी सहजता से पति से पूछा— क्या जी वह कलाकार क्या-क्या कह जा रहा था? मेरे पल्ले तो कुछ नहीं पड़ा। पति ने आश्चर्य से पत्नी को देखा और पूछा— यदि ऐसी ही बात थी तो तुम इतनी देर तक उस चित्र को क्या टकटकी बाँध देख रही थी? पत्नी ने बड़े भोले भाव से कहा— 'मैं तो उसे जलेबी का चित्र समझ कर देख रही थी।' इस प्रसंग का व्यंग्य-विनोद की बात तो स्पष्ट है। इसी सच्चाई की चिन्ता को छोड़ दें तो एक सत्य यह उभर आता है कि कलाकार की कला के सृजन के पीछे निहित भावात्मक प्रेरणा को बहुत कम रसिक जान सकते हैं। केवल नयी चित्रकला की ही बात नहीं, नयी कविता के लिये भी यही बात सार्थक सिद्ध होती है। नयी कविता ही क्या प्रायः हर युग की कविता के रचयिता और रसिक पाठक के अर्थबोध में एकरूपता हो यह आवश्यक नहीं था। कहते हैं कि गुरुदेव स्व० रवीन्द्रनाथ टाकुर एक दिन शान्तिनिकेतन की

एक कक्षा के पास पहले तो ठिठके–रुके, और बस बहुत देर तक रुके रहे थे। उस कक्षा मे उन्ही की एक कविता को समझाया जा रहा था। अध्यापक ने उनकी एक ही कविता के अनेकानेक ऐसे अर्थ ढूढे थे जो स्वय रचयिता के दिमाग मे कभी भी झाँक तक नही पाये थे। ठाकुर की कविता और आज की–धूमिल की–कविता मे एक मौलिक अन्तर है। वहा कविता के अनेकानेक समावित अर्थो मे से किसी एक को चुनने का पाठक को अधिकार था। यहाँ कविता के किसी भी अर्थ की सार्थकता पर लगा हुवा प्रश्न चिह्न हटाने के समावित सकट का पाठक को सामना करना पडता है। इसका अर्थ यह नही कि नयी कविता निरी निरर्थक है बल्कि वस्तुस्थिति यह है कि इसकी सार्थकता रचनाकार की घोर वैयक्तिकता के गहरे कूप मे कही खो गयी है। स्व० ग० मा० मुक्तिबोध की यह सम्मति मुझे बडी सटीक लगी है कि आज की नयी कविता इतनी दुरुह हुई है कि आज का एक कवि भी दूसरे कवि की कविता का अर्थ समझ सकने मे असमर्थ है। वस्तुत कविता की निरर्थकता और अर्थगत दुरुहता एक दम दो अलग-अलग स्थितियाँ हैं। पहली स्थिति को तक अस्वीकार्य मानता है। क्योकि गवार-अशिक्षित और असभ्य कालिदास की उगलियो के सकेतो से भी विद्वानो ने ब्रह्म और माया के अस्तित्व और स्वरूप से सम्बन्धित गहन अर्थ खोज निकाले थे। एक विख्यात भाषाविद् के अनुसार तो दुनिया की कोई ध्वनि तक निरर्थक नही होती। ऐसी स्थिति मे नयी हो या फिर पुरानी, किसी भी समय की कविता पर निरर्थकता का दोष लगाना अवैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक होगा।

धूमिल की कविताओ के विचार के प्रसग मे कविता की सार्थकता का विवेचन हो ही जायेगा। मैं चाहता हूँ यहाँ उसकी विषयक धारणाओ का परिचय दूँ। प्रश्न यह है कि धूमिल स्वय कविता के बारे मे क्या सोचता था? यदि इस प्रश्न का उत्तर *ठीक-ठीक समझ मे आ जाय तो फिर उसकी कविताओं को समझना आसान* होगा। इस प्रश्न को खडा करने का एक नही अनेक कारण है। एक तो यही कि धूमिल की कविता को कई लोग कई प्रकार के दूषणो से लादते रहे हैं। कोई कहता है कि उसकी कविता असम्बद्ध विचारो की अभिव्यक्ति का नमूना है, कोई कहता है उसकी कविता अश्लील है—भदेस है, कोई कोई कहता है—उसकी कविता मे कवि की अहम्मन्यता झलकती है, कोई कहता है—उसकी कविता रहस्यवादी कविता-सी (उलटबाँसी-सी) दुरुह है और कोई कहता है कि उसकी कविता मे आत्मगत कुठाओ, व्यथाओ की प्रतिक्रिया है। तो वास्तविकता आखिर है क्या? इस वास्तविकता को जानने का सुगम मार्ग यही है कि हम यह देखें कि स्वय धूमिल की कविता के सम्बन्ध मे क्या-क्या और कैसी-कैसी धारणाएँ थी। कोई रचनाकार किसी रचना-प्रकार के बारे मे अपने मतो को हमेशा ही स्पष्ट करे यह आवश्यक नही होता। बल्कि सच्चाई तो यह होती है कि साहित्यिक विधाओ के लक्षणो, गुणो आदि की चर्चा करना आलोचको का काम माना जाता है।

हिन्दी म रचनाकार और समीक्षक, कवि और आचार्य की भूमिकाएँ एक ही व्यक्ति द्वारा निभाने की परम्परा पुरानी है। रीतिकालीन कवि आचार्यों या फिर आचार्य-कवियों की बात जाने दीजिये। आधुनिक युग के आरम्भ से भी नाटककार नाट्यशास्त्र पर लिखता रहा है कहानीकार कहानी-कला पर लिख रहा है और कवि काव्यशास्त्र की चर्चा करता रहा है। कभी समूची विधा को सामने रख कर तो कभी अपनी ही रचनाओं के परिप्रेक्ष्य म ये आलोचनाएँ लिखी जाती रही हैं। नाटककार भारतेंदु ने नाटक पर एक ऐसा निबन्ध लिखा कि जिसे बाद के आलोचकों ने हिन्दी नाट्यशास्त्र का आरम्भ मान लिया। छायावाद की काव्य की प्रतिष्ठा और प्रतिष्ठापना म स्वय छायावादी कवियों ने भी अपनी कविता की लम्बी लम्बी भूमिकाएँ लिखी। इसी परम्परा म धूमिल का वह वक्तव्य भी आ जाता है जो उसने अपनी कविता के सदर्भ म दिया है। उसम कवि ने प्राय उन सभी तत्वों की चर्चा सक्षिप्त और सटीक रूप म कर डाली है जो उसकी कविताओं को समझने म परम सहायक सिद्ध होते हैं। केवल कविता पर वक्तव्य भाडकर ही वह चुप नहीं रहा। उसकी अनेकानेक कविताओं म डायरी म और चिठ्ठियों म कविता कवि और कवि कर्म लेकर कई बार उल्लेख आये हैं। उसकी कविताओं के दोनो सकलन पढ जाने पर यह एहसास हुए बिना नहीं रहता कि उस कवि होने का भान कविता की शक्ति-सीमाओं का ज्ञान और कवि-कर्म की सार्थकता निरर्थकता का उपादेयता अनुपादेयता का विचार निरन्तर घेरे रहता था। उक्त विषयों म उसकी धारणाएँ विशिष्ट थी। यदि मैं उन धारणाओं को अति विशिष्ट भी कहूँ तो अत्युक्ति न होगी।

द्वितीय अध्याय म मैंने धूमिल के कविता के माह के पैमाने का सकेत किया था। उसको सार्थकता को विस्तार देना मैंने हेतुन इस अध्याय के लिये सुरक्षित रखा था। अब मैं उस प्रसग को पुन छेड़ने का उपयुक्त अवसर समझता हूँ जिससे धूमिल की कविता सम्बन्धी धारणाओं म अधिक स्पष्टता आ जाय। 'कविता पर एक वक्तव्य' देते हुवे उसने लिखा है—मुझे याद है—बनारसीलाल के साथ बैठ कर मैंने पहली रचना की थी। हम दोनों सातवीं कक्षा के सहपाठी वरना नदी का किनारा साँझ का वक्त और कविता का विषय तय हुवा कि हम जिस पत्थर पर बैठे हैं वही हो। लिखा ! दो पक्तियाँ अब भी याद हैं लिखा था—

पड़ा हुआ है, वरना के तट पर
एक बड़ा काला-सा पत्थर।

मेरे मित्र ने रचना देखी। कलम उठायी और पूरी गभीरता से के काट दिया। मुझे समझाया कि पहली पक्ति म दो मात्राएँ अधिक थी। मुझसे 'गुनी' थ सो उनकी राय मान ली गयी। उसके बाद से लिखता आ रहा हूँ। प्रारम्भ मे विचार मित्रों के बीच विशिष्ट होने की तीव्र इच्छा ने, स्कूलों म पुरस्कारों के सम्मोहन ने,

परिवार के लोगों में अपने प्रति उत्पन्न हुए गर्व ने अक्सर मुझ से लिखवाया है। तब मैं चीजों के प्रति नहीं, अपने पत्रों के प्रति सचेष्ट था। उनके नजदीक अधिक आत्मीय। और वर्षों बाद जब यह मोह भंग हुआ, तो यह जानते हुए भी कि कवि होना कितना हास्यास्पद है, कविताएं लिखी जा रही हैं। यद्यपि यह न तो मेरी विवशता है और न मैं इसके लिये बाध्य हूँ। यह मेरी लत है—ठीक दातौन और ताश के पत्ता की तरह। और इसी हद तक मैं चीजों के निकट हूँ। मेरी रचना-प्रक्रिया एक ऐसी ऊब है, जो मुझे दूसरी रचना के आरम्भ से जोड़ती है। और प्रत्येक प्रश्न के बाद मेरे लिये हर रचना व्यर्थ हो जाती है और मेरा अकेलापन मेरे आस-पास से फिर जोड़ देता है, एक दूसरी रचना के लिये।' (नया प्रतीक – फरवरी 1978 पृष्ठ 2–3)

कविता के प्रति मोह और मोहभंग के बीच में धूमिल सदैव झूलता-सा दिखाई देता है। एक ओर उसे यह विश्वास होता है कि 'यदि कभी कहीं कुछ कर सकती। तो कविता ही कर सकती है।' तो दूसरी ओर वही लिख जाता है।

'कविता सिर्फ उतनी ही देर तक सुरक्षित है
जितनी देर, कीमा होने से पहले,
कसाई के ठीहे और तनी हुई गँडास के बीच
बोटी सुरक्षित है।' (स० 93)

इस तरह के आस्था और अनास्था भरे परस्पर विरोधी वक्तव्यों की धूमिल के साहित्य में कोई कमी नहीं है। धूमिल का यह कथन कि "वैसे कविता ऐसी उपलब्धि नहीं जिस पर गर्व किया जा सके, क्योंकि कोई कविता वस्तु सत्य से आगे नहीं जाती। अतिरिक्त इसके मैंने हर समय उपलब्धकर्त्ता को हारे हुए जुआरी की तरह आत्मघात करते देखा है।" (नया प्रतीक फरवरी 78 पृष्ठ 4) और उसकी ये पंक्तियां—

'कविता—
शब्दों की अदालत में
मुजरिम के कटघरे में खड़े बेकसूर आदमी का
हलफनामा है।' (स० 91)

उसकी कविता विषयक धारणाओं का अन्तर्द्वन्द्व उजागर करने वाला लगता है। ऐसे वक्तव्यों की संयुक्तिकता सिद्ध करना उसके प्रति पक्षपात की निराधार आशंका उत्पन्न करने वाला होगा, इसे जानकर भी मैं उसके बारे में कुछ लिखना चाहूँगा। वस्तुतः कविता कवि के मन-अन्तःकरण के भावावेग की परिणति होती है। भावावेग स्थिति और समय-सापेक्ष होते हैं। हमारे आन्तरिक उद्वेलन और वाह्याचरण को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला तत्व होता है हमारे निजी जीवन का दुख-सुख के कारणों को ढूँढने का यह प्रसंग नहीं है परन्तु इतना अवश्य कहा जा

सकता है कि हमारे अभावग्रस्त जीवन मे दुख का बोलबाला होता है और सम्पन्न जीवन मे सुखो का होना माना जाता है। स्वस्थ तन और आर्थिक दृष्टि से दुश्चिन्ताओ से विमुक्त मन लेकर हम दुनिया को कैसी सराहना की दृष्टि से देखते हैं। एक उर्दू शायर ने इस बारे मे लिखा है—

"जब पेट मे रोटी होती है
जब जब मे पैसा होता है
तब दुनिया का हर पत्थर हीरा है
हर शबनम मोती है।"

एक कल्पना जीवी और भावप्रवण कवि को उसके परिवेश मे आये परिवर्तनों ने हर बार नई दृष्टि से जीवन की ओर, कविता की ओर देखने के लिये प्रेरित किया हो तो आश्चर्य नही। धूमिल की समग्र कविताओ का समन्वित स्वर समसामयिक व्यवस्था के प्रति असन्तोष का है अनास्था का है परन्तु उसमे भी ऐसे कुछ अवसर अवश्य ढूढे जा सकते हैं जबकि आस्था भी प्रकट हो सकी है। इस आस्था और अनास्था के विचार को मैं आगामी किसी अध्याय मे चर्चा करने के लिये छोडना चाहूँगा। यहा तो बस इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि कविता का रूप सामर्थ्य और शक्ति को लेकर व्यक्त हुए धूमिल के मत मतान्तर अस्वाभाविक नही लगते। ऐसे परस्पर विरोधी मतो का एक और प्रबल कारण रहा है—धूमिल का कविताएँ लिखने का तरीका। आइए हम उसका भी विचार कर लें।

कविताएँ रचने के दो प्रकार माने जाते हैं। एक होता है सहज और दूसरा—सायास। सहज या अनायास कविताएँ लिख लेने वाले स्वय को दैव या ईश्वर से मिली विशेष प्रतिभा के धनी मानते हैं। उनका विश्वास होता है कि कविताएँ रची नही जाती, खुद-ब-खुद रच जाती हैं। कोई अलौकिक (पर) शक्ति उन्हे लिखने की प्रेरणा देती है और लिखने के लिये विवश भी करती है। यह विश्वास आज के बौद्धिक युग मे भी धीरे धीरे प्रबल होता जा रहा है। किसी प्रतिष्ठित कवि को मैं नहीं जानता जो ऐसी अलौकिकता की वकालत न करता हो। ऐसे कुछ उदीयमान कवियो-कवयित्रियो को भी अवश्य जानता हूँ जिन्हे अपनी काव्य-रचना किसी अज्ञात परा शक्ति की प्रेरणा का फल लगती है। इलहाम की अवस्था मे लिखने का अनुभव भी वे बताते हैं। उनमे से एक मराठी की कवयित्री को तो यहाँ तक अनुभव होता रहा है कि उसे अनायास ही काव्य की पक्तियाँ सूझती रहती हैं और जब तक उन पक्तियो को लिख नही लिया जाता, उसे एक बहुत बेचैनी का अनुभव होता रहता है। एक बार लिख लेने पर वे काव्य-पक्तियाँ उसे सदा-सदा के लिये याद हो जाती हैं। मैं यहाँ उक्त असाधारण अनुभूति को न अवैज्ञानिक करार देना चाहता हूँ और न ही उसकी वैज्ञानिकता सिद्ध करने के लिये कोई तार्किक आधार प्रस्तुत करना चाहता

हैं। यदि ऐसा किया जाय तो ग्रयुक्तिक और अनावश्यक होगा। धूमिल यदि ऐसे इलहाम में लिखने वाला कवि होता तो भी कोई बात थी। वह तो सायास ही नहीं वल्कि महत्प्रयासों के बाद अपनी कोई कविता लिख कर पूरी कर लेता था। कविता रचने के लिये प्रयास करने वालों में, हिन्दी में स्व० मैथिलीशरण गुप्त की टक्कर का आज तक शायद ही कोई कवि पैदा हुवा हो। कहते हैं कि वे तख्ती (स्लेट) पर पेन्सिल में लिख लेते थे जिससे अपनी पसन्द के शब्द सूझने तक, पहले लिखे गये शब्दों को अनगिनत बार मिटाया जा सकता था। यह सब खटाटोप तुक बन्दी के लिये ही विशेष रूप से होता था। इसमें वे ऐसे सफल हुवे कि 'तुक्कड़' ही कहलाए। वैसे सायास कविताएँ रचने वालों में मराठी के एक कवि—मोरोपन्त-का स्मरण न करना मेरे लिये कुछ कठिन बात होगी। कहते हैं कि उन्होंने अपने पूरे घर की दीवारें तुक मिलने वाले शब्दों से रंग डाली थी। यदि उनके समय मुद्रणालयों की सुलभ-सुविधा होती तो भारतीय भाषाओं का पहला 'तुकबन्दी कोष' प्रकाशित करने का उन्हें सम्मान अवश्य मिलता।

वस्तुत हर कवि अपनी रचना को रचते समय परिवर्तन अवश्य करता है। ऐसा परिवर्तन प्राय दो कारणों से अनिवार्य हो जाता है। पहला और महत्त्वपूर्ण कारण तो यही होता है कि कवि की सार्थक शब्दों को चुनने की उचित अभिलाषा उसके सामने कई शाब्दिक पर्यायों को प्रस्तुत करती रहती है जिससे काव्य पंक्ति में कई बार हेर-फेर करने पड़ जाते हैं। दूसरा कारण कल्पनाओं के नित-नूतन स्फुरण का होता है। आज लिखी किसी कविता में उसकी कल्पना में कुछ अलग तरह की (कल्पना) कल तक सूझ सकती है, जिससे कवि उस नयी कल्पना को कविता में उतारने के लिये विवश हो जाता है। धूमिल की काव्य-पंक्तियों में होने वाले हर फेर का एक तीसरा कारण था, जो सभवत उसकी अपनी विशेषता थी। वह अपनी कविताओं में केवल अपनी ही कल्पनाओं, अनुभूतियों और शब्दों को रखने का आग्रही नहीं था। यदि उसे कभी किसी और की कोई कल्पना पसन्द आती तो उसे वह अपनी कविता में नि सकोच होकर उतार देता था। यदि कभी उसे लोगों के साथ बातचीत करते हुए किसी से कोई चमत्कृत करने वाला वाक्य सुनने को मिलता था तो वह उस वाक्य को तुरन्त अपनी कविता का अविच्छेद्य अग बना डालता था। यह उचित है अथवा अनुचित ? यह एक बहस का विषय हो सकता है। इस बहस से मेरा कोई मतलब नहीं है। केवल इतना भर कहना चाहूँगा कि दूसरों के विचारों और अनुभूतियों को ले उड़ना 'मजमून छीनना' कहलाता है। इसे साहित्यिक चोरी भी कहते हैं। अत यह उचित नहीं है। परन्तु धूमिल की इस बारे में धारणा सर्वथा भिन्न थी। इस बारे में काशीनाथसिंह की टिप्पणी द्रष्टव्य है—" " रीतिकालीन कवियों की आलोचना के दौरान एक मुहावरा चला था—मजमून छीनना। कविता में धूमिल की ज्यादातर शक्ति इसी मजमून छीनने पर खर्च होती थी। उससे कभी एक

लड़के ने शिकायत की तुम्हारी प्रमुख कविता में ये जो पंक्तियाँ हैं मुझे पहली आदमी के एक लेख में मिली। धूमिल ने कहा—तो क्या करूँ, मुकदमा दायर करूँ? उस लड़के ने कहा—नहीं यह बात नहीं है। वह लेख इस कविता से पहले का है। धूमिल ने हँसकर कहा—भाई लकड़ी भले उनकी हो दरवाजा तो मैंने बनाया है। उस पर मैं काबिज हूँ। अब तो कानून भी मुझे वहाँ से हटा नहीं सकता। (आलोचना 33 अंक पृ० 12)

छपी छपायी दूसरों की काव्य पंक्तियों को ले उड़ने वाला धूमिल दूसरों की अप्रकाशित परन्तु उसकी सुनी और पसन्द की गयी काव्य पंक्तियों को ज्यों का-त्यों अपनी कविताओं में लिख ले तो कोई आश्चर्य की बात नहीं मानी जा सकती। उक्त प्रसंग के आगे ही काशीनाथसिंह की दी गई घटना इसकी साक्षी है। उन्होंने लिखा है— ऐसे ही गोविन्द उपाध्याय ने उनसे (धूमिल से) शिकायत करते हुए कहा जो किताबों के बीच में। जानवर-सा चुप है। (प्रौढ़ शिक्षा) पंक्ति मेरी कविता की थी तुमने यह क्या किया? धूमिल ने बड़ा ही दिलचस्प तर्क दिया—देखो, गोविन्द विचार मेरे हों या तुम्हारे। महत्त्वपूर्ण है उस विचार का लोगों तक पहुँचना। तुम छप नहीं पा रहे हो, इसलिए तुम्हें खुश होना चाहिए कि ये विचार किसी-न किसी माध्यम से लोगों तक पहुँच रहे हैं। तुलसिया को देखो। उसने चार सौ साल के उन सारे कवियों के विचार शिल्प छन्द भाषा को जनता तक पहुँचा दिया जो अन्धकार में तब तक डूबे रह गये थे।

धूमिल के उक्त दिलचस्प तर्क की मैं वकालत करना नहीं चाहता परन्तु काव्यगत विचारों की मौलिकता पर एक टिप्पणी जोड़ने का मोह भी इस प्रसंग पर संवरण नहीं कर सकता। मजमून छीनना या ले उड़ना साहित्यिक नैतिकता के विपरीत भले ही लगे परन्तु यदि वह काम लोगों के हित का ध्यान में रखकर किया जाय तो उसकी अनैतिकता असह्यता की कोटि की नहीं रहती। 12–15 वर्ष पहले की एक घटना है। मैं मराठी के एक विख्यात कवि (जिनका नाम इतना गोपनीय रख रहा हूँ) के घर पहुँचा था। उनकी लिखने की मेज पर पूर्वी जर्मनी हंगरी, चेकोस्लोवाकिया रूमानिया युगोस्लाविया आदि देशों से प्रकाशित होने वाली, नवकाव्य को समर्पित पत्रिकाओं का अम्बार देख कर मुझे आश्चर्य हुआ था। मैं अपनी जिज्ञासा छिपा न सका था। मैंने आखिर उन कवि महोदय से पूछ ही लिया था कि वे पत्रिकाएँ उनको अपने कवि-कर्म में कहाँ तक सहायता करती हैं? उनका उत्तर दो टूक था –'इन पत्रिकाओं में मेरी मराठी कविताओं के बीज हैं। और फिर विस्तार के साथ उस विषय पर बहस हुई थी। समाजवादी दृष्टि वाले उक्त कवि महोदय का तर्क प्रकाट्य था—हम पैतृक सम्पत्ति का स्वामित्व, पैतृक राजनीतिक और सामाजिक अधिकार को समाप्त करना चाहते हैं। सम्पत्ति और सत्ता के अधिकारों को व्यक्ति के चंगुल से निकाल कर समाज को सौंपना चाहते हैं तो किसी कल्पना विशेष पर ही

किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार होने का दावा स्वीकारने की आवश्यकता ही क्या है? यदि किसी का कोई विचार समाज का हितकारी या अहितकारी हो तो उसे समाज के सामने रखना अधिक आवश्यक है, उस विचार को सबसे पहले किसने रखा यह बताना आवश्यक है।

वस्तुत कविता के क्षेत्र मे कल्पनागत या वैचारिक मौलिकता एक विवादास्पद विषय है। उसे छेड़ने का यहाँ न तो प्रसग है न औचित्य ही है। इस विषय पर एक-दो स्वानुभूतियो का उल्लेख कर धूमिल के मजमून छीनने के स्वभाव-विशेष की चर्चा मे मैं आगे बढना चाहूँगा। कविता की भावपक्ष और विचार-पक्षगत मौलिकता की चर्चा मुझे कई बार कम सार्थक लगती है। विशेषत कुछ ऐसे प्रसग जब घटित होते हैं, जिनमे उक्त मौलिकता को चुनौती मिलती है, तो और अधिक तीव्रता मे से अनुभव होने लगता है कि कविता की भावगत मौलिकता की समीक्षा-शास्त्रीय कसौटी धोखे की टट्टी है। कुछ ही सप्ताहो पहले की बात है। मराठी की एक नव कवयित्री अपनी एक लघु कविता ले आयी। मैं उसे पढने मे एक सास तो दूर की बात रही आधी सास का समय भी न लगा, क्योंकि वह कविता ही मात्र 4 पक्तियो की थी। उसकी पहली पक्ति मात्र एक शब्द की थी और दूसरी, तीसरी और चौथी पक्ति मे भी 4 शब्दो से अधिक नही थे। विषय जाना-पहचाना था। 'सूरजमुखी के फूल पर रची वह कविता मुझे उस समय तो प्रभावित नही कर पायी थी। परन्तु कुछ दिनो के बाद उक्त कविता-विषय (सूरजमुखी) पर ही प्रकट किए गये अरस्तू के विचार मेरे पढने मे आये तो मैं दग रह गया। पहले तो सोचा कि उस नामी-गिरामी मराठी कवि की तरह उक्त कवयित्री ने भी अपनी कविता का 'भाव-बीज' किसी आयातित काव्य पत्रिका से बीन लिया होगा। परन्तु यह सभव न था। जैसे कि अगरेजी के अधे समर्थक 'अगरेजी हटाव' आन्दोलन चलाने वालो को अगरेजी के गैरजानकार मानते हैं, तो उक्त आन्दोलन का देश-व्यापी नेतृत्व करने का जन्मसिद्ध अधिकार उक्त कवयित्री को दिलाने वाला उसका अगरेजी का अज्ञान था, इसे मैं जानता था। मैंने जिज्ञासा वश उससे उसकी अरस्तू के विचारो का भावानुवाद-सी' लगने वाली उक्त कविता की प्रेरणा के बारे मे पूछा तो उसने विश्वविद्यालय के प्रागण मे स्थित उस 'वनस्पति-उद्यान' की ओर सकेत किया, जिसमे सूरजमुखी का फूल वाला इकलौता एक पौधा, और जाति के फूलो के पौधो से कुछ दूरी पर खड़ा था। तो क्या एक ही वस्तु समय और देश, पुरुष और स्त्री, धर्म और भाषा के बधनो को लाघ कर एक-सी सवेदना, कई लोगो मे उत्पन्न करती नही? इस प्रश्न का उत्तर 'करती है' देना पड़ता है जिससे कविता की भावगत मौलिकता के तत्त्व की महत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखना कठिन न हो जाता है।

मानवी अन्तःकरण की सवेदना-शक्ति सार्वकालिक और सार्वभौम होती है जिससे आज तक कई बार कई सवेदनशील लोगो मे प्राय एक-से भाव उत्पन्न होते

रहे हैं। ऐसे भावों की समानता वाली अभिव्यक्तियाँ हमें आश्चर्य-चकित कर देती हैं। यदि बहुत ही सूक्ष्मता के साथ सोचें तो मुझे लगता है हमें कविता में भावात्मक सौंदर्य का बोध भी तभी होता है जब कि उसमें अभिव्यक्त भाव सा ही कोई भाव हमारे अंतःकरण के किसी कोने में अवश्य छिपा होता है जो उसी तरह के भाव की कविता को पढ़कर अकस्मात प्रबल रूप में प्रकट हो जाता है। यहाँ कविता के आस्वादन की प्रक्रिया का विश्लेषण करना न मेरा उद्देश्य है और न ही मेरा अधिकार है। इससे भी आगे बढ़ कर ऐसे विश्लेषण की न ही कोई आवश्यकता है और न ही उसका कोई प्रासंगिक औचित्य।

धूमिल की काव्य सम्बन्धी मान्यताओं में एक विशेष मान्यता यह भी थी कि वह अपनी कविता को जनसाधारण की वस्तु बनाने पर तुल जाता था। इसके लिए उसका प्रयास भी अनोखा था। वह एक ओर तो समानधर्मा रचनाकारों से अनेक विषयों पर बहस करता ही था साथ-साथ साधारण लोगों में जाकर उनके दुःख-सुखों को सुनता हुआ बड़ा चौकस रहता था। ज्योंही कोई चमत्कृत करने वाली उक्ति, किसी साधारण जन से सुनता, उसे लिख लेता और अपनी किसी न-किसी रचना में उसे जड़ देता। इससे उसकी कविता में एक दोष उत्पन्न हुआ—असंबद्धता का। प्रभावित करने वाली उक्तियों को अपनी कविताओं में स्थान देना उसका स्वभाव बन गया था। इससे होता यह था कि कभी वे उक्तियाँ कविता के कथ्य के साथ मिल जातीं तो कभी ऐसी बेमेल और हास्यास्पद हो जातीं जैसे किसी की बारात में बैंड वाले मौत का सामान ले चले गाने की प्यारी धुन बजा दें। धूमिल की इसी आदत से उपजी असंबद्धता ने उसकी कई कविताओं को दुरूहता की सीमा तक पहुँचा दिया है। वह पहले किसी कविता के विषय को लेकर कई दिन औरों से बहस करता और खुद भी सोचता रहता। उस विषय पर जो भी सूझता उसमें से जो लिख लेने योग्य होता उसे लिख लेता और फिर उसे 'तरतीब' देकर कविता की रचना कर डालता था। उसकी इस सृजन प्रक्रिया का बहुत अच्छा परिचय देते हुए श्री काशीनाथसिंह ने लिखा है—

उसकी कविता लिखने की प्रक्रिया मुझे रीतिकालीन आचार्यों की याद दिलाती है। वह कविता करता नहीं था बनाता था। जिस तरह रीतिकालीन कवियों का सारा ध्यान सवैया या कवित्त की अन्तिम पंक्ति पर केन्द्रित होता था या यूँ कहें कि सबसे पहले उनके दिमाग में 'समस्या' आती थी और वे उसकी पूर्ति ऊपर की तीन या सात पंक्तियों से करते थे, उसी तरह धूमिल के दिमाग में जुमले आते थे और ये जुमले कभी तो उसके उपजाऊ दिमाग की उपज होते थे और कभी उन लोगों की बातचीत में हासिल होते थे।

फिर वे जुमले उसके लिए कविता में 'प्रस्थान बिन्दु' की तरह होते थे उस सूत्र के माध्यम से वह कविता को 'कसीदे' करता था—बल्कि वे उपजाऊ पंक्तियाँ

ही कविता का प्रारूप, विषय और आकार निर्धारित करती थी। कविता का कोई भी सचेत पाठक 'संसद से सड़क तक' की लगभग सभी कविताओं में ऐसी पंक्तियों पर उँगली रख सकता है। ज्यादातर वे सूक्तियाँ कविता के अन्त में हैं। जैसे—

अब उसे मालूम है कि कविता
घेराव में
किसी बौखलाए हुए आदमी का
संक्षिप्त एकालाप है (कविता)

× × ×

आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है
जिन्हें एक पहिया ढोता है। (बीस साल बाद)

× ×

एकता युद्ध की और दया
अकाल की पूँजी है। (अकाल-दर्शन)

× ×

वह सुरक्षित नहीं है
जिसका नाम हत्यारों की सूची में नहीं है।
(हत्यारी संभावनाओं के नीचे)

कहीं कहीं ऐसी सूक्तियाँ कविता के अन्त में न होकर आरम्भ या बीच में हैं। जैसे—

हर आदमी एक जोड़ी जूता है
जो मेरे सामने/मरम्मत के लिये खड़ा है (मोचीराम)

इस वक्त जबकि कान नहीं सुनते हैं कविताएँ
कविता पेट से सुनी जा रही है। (कवि 1970)

इनके सिवा धूमिल के पास अनेक ऐसी सूक्तियाँ थीं जिन्हें कविता में शामिल होने के लिए वर्षों का इन्तजार करना पड़ा है। जैसे—'औरतें योनि की सफलता के बाद गया का गीत गा रही हैं', 'बवासीर की गाँठ की तरह शब्द लहू उगलते हैं', *'इस कदर कायर हूँ कि उत्तर प्रदेश हूँ', 'मैंने जिसकी पूँछ/उठायी है उसको मादा/पाया है'* (पहले यह पंक्ति गीत की कड़ी की शक्ल में थी—'जिसकी-जिसकी पूँछ उठायी उसको-उसको मादा पाया')। इनके अतिरिक्त जितनी सूक्तियाँ उस समय तक कविता में जगह नहीं पा सकी थीं, वे सब-की-सब धूमिल की सबसे लम्बी कविता 'पटकथा' में आ गयीं। धूमिल का प्रिय शब्द था—'इजारद' जिसका इस्तेमाल वह उस कविता को लिख जाने के बाद करता था, जिससे वह पूरी तरह सन्तुष्ट होता,

साथ ही इसका अर्थ यह भी होता था कि अब फिलहाल अगली कविता की सामग्री उसके पास नहीं रह गयी है। यानी जो थी उस एक कविता म लगा दी गयी है।

पटकथा समाप्त करने के बाद धूमिल ने यही कहा था 'मैंने इस कविता म खुद को इग्जास्ट कर दिया है।

ऐसे ही धूमिल के दो बड निजी शब्द थे जिनका सम्बन्ध उसकी रचना प्रक्रिया से है—अमलगमेशन और चैनेलाइज। एक का प्रयोग वह उस समय करता था जब उसके पास बिखरी हुई असम्बद्ध पक्तियाँ तो होती थी लकिन वह खुद अस्पष्ट और उलझा हुआ होता था। दूसरे का प्रयोग तब करता था जब वे पक्तियाँ एक केन्द्रीय विचार या सवेदना के साथ सिलसिला या क्रम पकड लेती थी और उसक आगे स्पष्ट हो जाता था कि अब कविता पूरी होने मे देर नही।

(आलोचना 33/पृष्ठ १९)

धूमिल की कविता रचना की प्रक्रिया का ज्ञान हम उसके कविता विषयक विचारो को समझने म सहायक होता है। अभी तक की चचा से यही कुछ स्पष्ट हो जाता है कि वह कविता को कोई सभी दद की दवा या फिर जादू की छडी नही मानता था। यद्यपि वह स्वय को कवि होने के नाते विशिष्ट होने की भ्रान्ति कुछ दिनो तक पालता रहा था। परन्तु शीघ्र ही उसे कविता की सीमाओ का बोध हुवा कवि की विवशताओ का एहसास हुवा तो उसका भ्राति टूट गयी। इसलिये कविता के बारे म उसकी रचनाओ म जब कभी कुछ उल्लेख आते हैं उनके पीछे उसकी कठोर बौद्धिकता का प्रभाव दिखाई देता है। उसकी दृष्टि म कविता क्या थी? इस प्रश्न का उत्तर उसी की कुछ रचनाओ के सहारे इस प्रकार दिया जा सकता है—

ससद से सडक तक के आरम्भ म ही धूमिल का एक मन्तव्य छपा है—

> 'एक सही कविता
> पहले
> एक सार्थक वक्तव्य
> होती है।

और सबसे पहले क्रम पर कविता शीषक वाली कविता छपी है। इस कविता को पढ कर पाठक चौंक जाता है। विशेषत वह पाठक तो कुछ विचलित-सा ही हो उठता है जिसने कविता को भारतीय काव्यशास्त्र म कामिनी वधू आदि रूपो म वर्णित होते देखा—अर्थात् पढा है। सम्पूर्ण स्त्री होने से पहले ही गर्भाधान की क्रिया से गुजरने वाली और हर तीसरे गर्भपात के बाद धर्मशाला होने वाली स्त्री के साथ कविता जुड जाती देख कर अपनी 'गहरी आस्था' के लिये पूर्वाग्रह म स्थान रही कविता की अथवत्ता उनमुक्ती की इबारत की निरथकता के साथ

जुड़ती देख कर और समूची मानवीय संवेदनाओं की सरस अभिव्यक्ति' का दावा करने वाली कविता को घेराव के किसी बोखलाए हुए आदमी का 'अरण्य-रुदन' मात्र करार दी जाती देख कर तो पाठक का मन एक विवश-से विक्षोभ से भर जाता है। इस मूल्यहीनता को कविता के पहुँचने का कारण उसका पढ़े-लिखे आदमी के साथ शहर चला आना मान लिया गया है। इतने पर भी कविता के अस्तित्व की व्यर्थता का बोध इस कविता में नहीं उभर पाता! और कुछ न सही 'हाँ, हो सके तो बगल से गुजरते हुए आदमी से' यह कहने की कविता में शक्ति स्वीकार्य हुई है कि 'लो, यह रहा तुम्हारा चेहरा, यह जलूस के पीछे गिर पड़ा था।' कविता की यह उपलब्धि समय के विचार से कम महत्वपूर्ण नहीं कही जा सकती।

घूमिल का समकालीन बोध बहुत गहरा था। अपने समय की बिगड़ी हुई व्यवस्था के विरोध में वह अपने को खड़ा कर चुका था। एक राजनीतिक का व्यवस्था-विरोध अलग-अलग होता है। विरोध का स्वरूप और साधन जो भी हों उद्देश्य एक ही होता है—उस व्यवस्था को बदल देना। घूमिल भी समझता था—

'मुझे अपनी कविताओं के लिए
दूसरे प्रजातंत्र की तलाश है'

और उसके प्रचालन प्रजातंत्र में—

'और विपक्ष में
सिर्फ कविता है'

अपनी अवांछित व्यवस्था के विचारों में कविता की रचना, कविता की शक्ति-सामर्थ्य के प्रति आस्थावान् होना है। इसमें कोई शक नहीं कि घूमिल कवि और कविता की सीमाओं से परिचित था फिर भी उसकी शक्ति में विश्वासी था।

'अन्त में कहूँगा—
सिर्फ इतना कहूँगा—
हाँ, हाँ मैं कवि हूँ,
कवि—याने भाषा में
भदेस हूँ' (सं० 71)

लिखने वाला कवि यह भी लिख जाता है—

'ओ देश के पोर-पोर में दुखते हुए गूँग जमून।
क्रोध की अकेली मुद्रा में
उफनते हुए सात्विक खून।
आ, बाहर आ,
मैं एक अदना कवि—तेरी भाषा का मुँहताज
मुझे अपनी बोली में शरीक कर ' (सं० 105)

भदेसपन का एहसास और देश के भावोद्वेलन के जुनून में शरीक होने की आकांक्षा धूमिल-सा कवि ही कर सकता है। कविता को विपक्ष में रखने की महत्त्वाकांक्षा को उक्त आकांक्षा का ही परिणाम समझा जा सकता है। वस्तुतः 'विपक्ष' शब्द हमारे लोकतन्त्र में वह प्रतिष्ठा-प्राप्त शब्द नहीं है जो अमरीका या इंग्लैंड के लोकतन्त्र में। यहां के विपक्ष की कल्पना सत्ताधारी पक्ष के कटु आलोचक के रूप में रूढ़ है। उसकी आलोचना में रचनात्मकता की अपेक्षा विध्वंस की ओर जनकल्याण में सहयोग की प्रवृत्ति अधिक देखी जाती है। धूमिल की कविता में विध्वंस और असहयोग की अपेक्षा व्यवस्था के दायान्वेषण की प्रवृत्ति को विपक्ष का प्रमुख गुण माना गया है। अर्थात् ये बातें उसके राजनीतिक बोध से अधिक सम्बद्ध हैं जिनकी चर्चा अगले किसी अध्याय में करनी होगी।

प्रस्तुत प्रसंग में इतना जोड़ देना आवश्यक समझता हूँ कि धूमिल सत्ताधारी पक्ष को सुविधा भोगी मानता था और उसके विरोध में जाने को रक्षा समझता था। जहाँ सुविधाएँ सत्ता के साथ संलग्न हो जाती हैं वहां न्याय और सत्य की हत्या अवश्यम्भावी हो जाती है। इसी स्थिति को ध्यान में रखकर वह कविता का दायित्व निश्चित करता है। वह लिख जाता है—

'कविता हत्या नहीं करती—
 खून की रपट के कानूनी
ममता पर
पड़ताल करती है
ताकि न्याय कायम हो।
 और
 जब ज्यादा तर लोग सहमत होने
लगते हैं सुविधा के किसी खास
नुक्ते पर वाजिब शर्तों के साथ
हक जैसे एक मामूली शब्द को
मोर्चे पर बहाल करता है
सत्य की सुरक्षा हो इसलिए। (कल 37)

कविता से न्याय और सत्य की रक्षा करना समाज को शिकार में बचाने का प्रयास करना ही है। प्राचीन कविता सामाजिक को सहज मानवीय सद्‌गुणों से संयुक्त करने के लिये 'कान्ता-सम्मत' उपदेश का सहारा लेती थी परन्तु धूमिल की नयी कविता—

'और ठीक उसी वक्त कविता
शब्दों पर सान चढ़ाने का काम

(चीजों) 'का सही बोध ही मेरी रचना का धर्म है।

शुरू करती है जब आदमी के
दर्दीले गले से कोई अग्नि-गीत
फूटता है—" (कल 35

वातानुकूलित भवन में बैठा हुआ वर्गचेतना-सम्पन्न कवि
अथाह व्यथा के प्रदर्शन के लिये आदमी के दर्दीले गले से फूटने
नहीं सकता बल्कि इसके लिये तो स्वयं कवि को भुक्तभोगी होना होता है।
धूमिल लिखता है —

"मैं हूँ अथाह रुदन, अधकार आर-पार
जिसे एक टूटे हुए हृदय ने
खुद को जोड़ने के लिये गा दिया है' (कल 62)

ऐसा टूटा हृदय उसी का हो सकता है जो भूख से खाया जाता हो, जो अपने खून से सींच-सींच कर कविता की बगिया के शब्द रूपी फूलों को खिलाता हो, जिसके घर में बच्चे भूखे पेट आँख-मिचौनी खेल रहे हो और जिसके परिवार के लोग स्वाधीनता को निर्मम आक्रमण की भांति झेल रहे हों। ऐसी स्थितियों में जीने वाले कवि की रचनाएँ यदि पाठकों को कुछ प्रभावित कर सकती हैं तो बस केवल इसलिये कि कवि के शोक-संतप्त व्यक्तित्व के ताप से पाठकों की करुणा मिल जाती है।

धूमिल के उपर्युक्त मन्तव्य से संभवतः यह सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि वह कविता को ठेठ अनुपयोगी वस्तु और कवि को अव्यावहारिक जीव समझता था। इसी प्रकार के और भी अनेक प्रसंग उसकी कविताओं में उभरे हैं जिन्हें पढ़ जाने पर उसकी कविता-सम्बन्धी धारणाओं को निराशावाद या कुंठाग्रस्त स्थिति के अधिक समीप पड़ती देखा जा सकता है। परन्तु उसकी कविता और कवि सम्बन्धी विचारों का जो आस्थावान पक्ष है वह भी कम बलवान नहीं है। 'कविता क्या है?' का विस्तार के साथ उत्तर देते हुये उसने लिखा है—

"कविता क्या है?
कोई पहनावा है?
कुर्ता पाजामा है?"
"ना, भाई, ना
कविता—
शब्दों की अदालत में
मुजरिम के कटघरे में खड़े बेकसूर आदमी का
हलफनामा है।" (स० 91)

कविता कोई बाहरी तत्व नहीं है। यह कोई अपनी नग्नता को ढँकने की वस्तु नहीं है। यह तो अपनी ग्रान्तरिक निरपराधिता को सिद्ध करने का साधन है। झूठे इल्जामों को निर्मूल करके अपना बेकसूर होना स्थापित करने का हथियार है। कविता से कोई, औरों की तुलना म अपने व्यक्तित्व को श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहे अपने चरित्रवान् होने का दावा करना चाहे या फिर माया ही जोडने की ठाने तो वह भी बकार की बातें होगी क्योंकि कविता का वास्तविक काय है।

कविता —
आदमी होने की तमीज है। (स० 91)

अर्थात् मनुष्य को मनुष्यत्व का अनुभव कराना ही कविता का काम है।

कवि कविता और सामाजिकता का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। हलफनामा' हो या आदमी होने की तमीज इनका समाज से बाहर कोई महत्त्व नहीं होता। धूमिल का यह कहना कि —

लेकिन मैंने कहा—
अकेला कवि कटघरा होता है। (स० 92)

उस समाज की सत्ता का गहरा एहसास करान वाला लगता है। अरण्य रुदन सा 'एकालाप और कटघरा कवि के समाज से विछिन्न होने की कल्पनाएँ हैं। धूमिल स्वय को उक्त समाज विमुखता के अभिशाप से दूर-सुदूर रखने क लिये कटिबद्ध दिखायी पडता है। उसका समाज बोध इस तरह गहन है कि लगता है वह अपने समय के अपने सामाजिक वग का एकमेवाद्वितीय प्रवक्ता है। कवि और कविता के बार म उसकी सामान्य मान्यताएँ जो भी और जैसी भी हो परन्तु जहाँ उसकी अपनी कविता की शक्ति का उसे साक्षात्कार हुआ है वहाँ वह निर्द्वन्द्व भाव स लिख गया है—

मेरी कविता इस तरह अक्ल की
सामूहिकता देती है और समूह को साहसिकता
इस तरह कविता म शब्द के जरिये एक कवि
अपन वग क आदमी को समूह की साहसिकता स
भरता है जब कि शस्त्र अपन वगशत्रु को
समूह स विछिन्न करता है। यह ध्यान
रहे कि शब्द और शस्त्र के व्यवहार का व्याकरण
अलग अलग है। शब्द अपने वग मित्रों म कारगर
होते हैं और शस्त्र अपने वग-शत्रु पर।' (स० 66–67)

कविता क कारगर होन म धूमिल का उक्त विश्वास मात्र भावुकता पर नहीं बल्कि शास्त्रीय सत्य पर प्रतिष्ठित दिखायी देता है। उसकी कविता उसके जैसे

भुक्तभोगी पाठकों को उनके वैयक्तिक दुख-सुख के घेरे से बाहर निकाल कर समूह में लाकर खडा कर देती है। व्यक्तिगत स्तर पर भोगी सही कटुताओं, विद्रूपताओं को औरों से कहने का साहस न बटोर पाने वाला भी उन कविताओं को पढकर कुछ साहसी हो जाता है। यह साहस सामूहिकता की भावना से मिलता है। जब किसी एक व्यक्ति को कोई रचना पढकर यह एहसास हो जाता है कि उसी की तरह और भी अनेक लोग हैं, जिन्हें उसी की भाँति बहुत कुछ भुगतना पडा है, तभी वह अकेलेपन की स्थिति से निकल कर स्वयं को समाज या समूह मे होने की स्थिति मे पाता है। समूह मे आ जाने पर उसकी सहनशीलता और असहायता प्रतिवाद और प्रतिकार की वृत्ति मे बदल जाती है। कविता का यह प्रभाव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

शब्द और शस्त्र के व्याकरण का भेद भी वर्गवादी चिन्तन के अनुकूल दिखायी देता है। वर्ग-मित्र और वर्ग-शत्रु की कल्पना साम्यवादी प्रभाव का प्रमाण लगती है। वैसे यह बात मेरी दृष्टि मे विवाद्य है कि हमारे इस देश मे वर्ग-मित्र और वर्ग शत्रु की व्यावहारिक सीमाएँ स्पष्ट हैं। वर्गवादी चेतना को साम्यवादी चिन्तन की काल मार्क्स के दर्शन से जोडकर भारी गडबड की स्थिति पैदा हुई है। केवल साहित्यिक समीक्षा मे ही उक्त जोड ने सभ्रम उत्पन्न किया हो यह बात नहीं बल्कि भारतीय राजनीति मे भी उसने कई प्रकार की उलझनें उत्पन्न कर डाली है। धूमिल की कविता मे आयी वर्ग-मित्र और वर्ग-शत्रु की कल्पना को यदि स्थूल रूप मे लें तो ही बात कुछ सयुक्तिक लगती है अन्यथा विषम स्थिति उत्पन्न होने की आशका बनी रहती है। मेरी उक्त आशका को धूमिल की वर्गवादी चेतना के विवेचन के विशेष सदर्भ मे स्पष्ट करना अयुक्तिक होगा। यहाँ केवल यही कि धूमिल की दृष्टि मे कविता और शस्त्र एक से कारगर होकर भी दोनों के प्रयोग के क्षेत्र और लक्ष्य अलग-अलग हैं। कविता वर्ग मित्रो के साथ सहमति-असहमति को लेकर होने वाले वैचारिक सघर्ष मे काम देती है तो शस्त्र वर्ग-शत्रुओं के साथ अस्तित्व की लडाई लडने मे काम देता है। कविता का प्रयोग अहिंसक मार्ग से वर्ग-मित्रो को जीतने के लिये होता है तो शस्त्र का प्रयोग हिंसा करके वर्ग-शत्रुओं को नेस्तनाबूत करने के लिये होता है। जो भी हो, धूमिल कविता को शक्ति और शक्ति मे अहिंसा का साम्य और श्रद्धा से देखता था यही स्पष्ट होना है।

धूमिल कविता और कवि के सामाजिक मूल्यो के प्रति चिर सतर्क जीव था। केवल उसकी कविताओं मे ही नहीं बल्कि उसकी गद्य रचनाओं मे भी उक्त सतर्कता देखी जा सकती है। 'गद्य-रचनाएँ' शब्द प्रयोग तो मात्र रूढि निर्वाह के लिये कर रहा हूँ। लगता है उसने कोई स्वतत्र गद्य रचना नहीं की है। कुछ छिटपुट लिखा है। एकाध निबन्ध, एकाध वक्तव्य, डायरी के कुछ पन्ने और मित्रो के नाम कुछ चिठ्ठियाँ। सभी मे कवि और कविता के बारे मे अनेक विशिष्ट उल्लेख अवश्य आये हैं। एक बार उसने डायरी के एक पृष्ठ पर अंकित किया—

'गुरुवार 13 फरवरी 1969

मैं महसूस करने लगा हूँ कि कविता आदमी को कुछ नहीं देगी सिवा उस तनाव के जो बात चीत के दौरान दो चेहरों के बीच तन जाता है। इन दिनों एक खतरा और बढ़ गया है कि ज्यादातर लोग कविता को चमत्कार के आग समझने लगे हैं। इस स्थिति में सहज होना जितना कठिन है सामान्य होने का खतरा उतना बल्कि उससे ज्यादा है।

फिर भी मैं कविता को आदत होने से बचा रहा हूँ। हाँ यह एक प्रक्रिया अवश्य है मुक्ति के लिये नहीं मुक्त होने के एहसास के लिए

कविता की अनुपयोगिता और लोगों की दृष्टि में चमत्कार के आग समझा जाना धूमिल में कविता के प्रति विकर्षण उत्पन्न नहीं करता। मुक्त होने के एहसास के लिये वह कविता लिखना जाता है। उन्हीं दिनों उसके मन में कविता की आवश्यकता को लेकर संभवतः बेहद अन्तर्द्वन्द्व था। क्योंकि केवल 3 दिनों बाद *उसने करमकर के घर हुई गोष्ठी में पढ़ गये सत्यव्रत के निबन्ध के सन्दर्भ में डायरी* में लिखा—

रविवार 16 फरवरी 1969

सत्यव्रत ने कहा है कि घर घर कुकुर की तरह कवि हो गये हैं। क्या यह बुरा है? इसमें परेशानी क्या है? कमी रही होगी। लेकिन तब जब कि कविता गुंजाइश' थी। उससे अर्थ की प्राप्ति होती। लेकिन आज कविता गुंजाइश नहीं एक जोखिम है। और ऐसी हालत में यदि घर घर कवि हो भी जाय तो बुरा क्या है? कम-से-कम हर गूंगे और सोये हुए घर के सामने एक, कमजोर मरियल ही सही गुर्राने वाली चेतावनी देने वाली-जागती आवाज तो रहेगी।

कविता की कोई नैतिकता नहीं होती।
कविता किसी से सहानुभूति नहीं माँगती।
कविता प्रशनीत नहीं होती।'

स्पष्ट है कि धूमिल की दृष्टि में कविता का दायित्व था चेतावनी देना। उसके मन में कविता के नैतिक होने न होने को लेकर निर्भ्रान्त धारणा थी और कविता को वह सहानुभूति माँगने वाली नहीं मानता था। सहानुभूति नहीं तो उसे क्या चाहिये था? मुझे लगता है—कवि (धूमिल) सहानुभूति की अपेक्षा सहमति

की अधिक आवश्यकता समझता था। उसकी आग्री कविताएँ पढ जाने पर एक एहसास यह भी होता है कि उनमे शायद ही कही भावुकता है। सहानुभूति भावना है और सहमति विचार है। भावात्मकता का अभाव और वैचारिकता का एक-छत्र प्रभाव उसकी कविता का लक्षणीय गुण माना जा सकता है। इसी गुण को ध्यान मे रख कर कुछ आलोचक उसे 'विचार-कवि' कहने की पहल करते है। कुछ आलोचक उक्त लेबुल से उसे बचाने का भी प्रयास करते हैं। ऐसा ही एक प्रयास डॉ० हुकुमचन्द राजपाल जी के निम्नलिखित शब्दो मे द्रष्टव्य है—

''धूमिल की कविताओ की ऊपरी धरातल पर देखने से उसका नाट्यरूप तो स्पष्ट हो जाता है पर आन्तरिक सवेदना का कही-कही अभाव खटक जाता है। सीधी सपाट शब्दावली मे दिये वक्तव्य काव्यात्मक सवेदना को उद्घाटित नहीं करते। दूसरे शब्दो मे कहे तो धूमिल की कविता अन्तर का स्पर्श न कर मात्र स्थिति का स्थूल दृश्य उपस्थित करती है। उसका बोध वास्तविक बोध तक ही सीमित रहता है, उसमे वेदना (अनुभूति) का सस्पर्श नहीं होता। वह सपाट इतनी अधिक होती है कि बहिर्मुखी रचना लगने लगती है। इस तरह के कई दोष साठोत्तरी कविता पर लगाये जाते रहे हैं—धूमिल पर भी यह दोषारोपण होना स्वाभाविक है पर आज का कवि किसी प्रकार का आरोपण करना नही चाहता—वह सीधी-सपाट अभिव्यक्ति मे विश्वास रखता है। यही कारण है कि नई कविता के पश्चात् की कविता को 'विचार-कविता' का नाम दिया जाता है। पर धूमिल को विचार कवि नाम नहीं दिया जाना चाहिये क्योकि उसने धरातल यथार्थ अपनाकर भी अनेक ऐसी स्थितियाँ उद्घाटित की है जिनसे पाठक-विभोर भले ही न हो पर भाव-विह्वल होता है। उदाहरणार्थ 'कविता' की कुछ पक्तियाँ द्रष्टव्य है—

> ''एक सम्पूर्ण स्त्री होने के पहले ही
> गर्भाधान की क्रिया से गुजरते हुए
> उसने जाना कि प्यार
> घनी आबादी वाली बस्तियो मे
> मकान की तलाश है
> लगातार बारिश मे भीगते हुए
> जाना कि हर लडकी
> तीसरे गर्भपात के बाद
> धर्मशाला हो जाती है और कविता
> हर तीसरे पाठ के बाद।''

(स० 9) (परिशोध 26 पृ० 51)

सवेद्य होने के उदाहरणों के रूप मे जिन थोडी बहुत काव्य पक्तियो को उद्धृत किया जाता रहता है उनमे निम्नलिखित उद्धरणो को देखा जा सकता है—

"मेरे पास उत्तेजित होने के लिये
कुछ भी नही है
न कोकशास्त्र की किताबें
न युद्ध की बात
न गद्देदार बिस्तर
न टाँगें, न रात
चाँदनी
कुछ भी नही
बलात्कार के बाद की आत्मीयता
मुझे शोक से भर गयी है
मेरी शालीनता मेरी जरूरत है
जो मुझे अक्सर नगा कर गयी है" (स० 24)

तथा

"ठीक यहीं से
रिश्तों का फालतूपन उभरता है
परिचय की सतहो पर
फैल जाता है गाढा अन्धकार
आत्मीयता
नीयत की हरजाई तुकबन्दियो मे
खो जाती है
किसी
डरे हुए पेड के इशारे पर
हरियाली
भूँकते हुए अघड के सामने
कुछ तिनके फेंककर
वक्त की साजिश मे
शरीक हो जाती है।" (स० 64–65)

धूमिल ने कभी भी कहीं पर भी अपनी कविताओ की भावात्मक गहराई का आग्रही प्रतिपाद किया हो ऐसी बात नहीं, इसलिये उसकी कविताओं मे सवेदनाशीलता के मार्मिक प्रसगों की खोज करना या तो उसकी रचनाओ को गलत समझना है या फिर स्वय को धोखा देना है। 'कविता पर एक वक्तव्य' मे उसने बड़े ही दो टूक

शब्दो मे अपनी कविता का स्वरूप, उद्देश्य और उपलब्धि की चर्चा करते हुवे लिखा है—

"मेरी कविताएँ गुस्से और ग्लानि की इन्ही स्थितियो मे लिखी गयी हैं, जिनमे मेरी कविताओ का मूल स्वर बोध को उसके सही डायमेशनो मे रखना है। साथ ही एक चौथे डायमेशन की सही शिनाख्त भी करनी है। अब तक चौथे डायमेशन की धारणा मे असीम और अलख की अभिव्यक्ति हुई है। चीज की लम्बाई, चौडाई और मोटाई के बाहर की किसी शक्ति-विशेष की बात होती रही है। किन्तु मेरा तात्पर्य यह नही है। चौथे डायमेशन मेरा मतलब चीज के उस निजी सामर्थ्य से है, जो उसमे है और जिसकी मध्यस्थता के कारण वस्तु और व्यक्ति अपनी-अपनी स्थितियो मे सुरक्षित एक तनाव के बावजूद एक दूसरे से जुडे हुवे हैं। इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि हम चीज के प्रति प्रतिबद्ध हैं। बल्कि ऐसा केवल इसलिये है कि हम कही-न-कही सलग्न हैं और यह सलग्नता किसी हद तक हमे 'प्रतिबद्ध' होने की कोशिश तक जरूर ले जाती है। सिनेमा छूटने के बाद गहरी ऊब बाहर निकलने की जल्दबाजी के बावजूद न चाहते हुए भी जन-गण-मन अधिनायक के अन्तिम चरण तक का धीरज देश के प्रति मेरी प्रतिबद्धता का नही, बल्कि मेरी सलग्नता का सबूत है। 'सतह की बातो' का भी एक खास महत्व है और वे घटनाएँ, जो खुर्दबीन से ही देखी जा सकें, मेरे लिये स्पष्टतर हो गयी हैं। मैं जान गया हूँ कि किसी जगह बम गिरने की पीडा से चाय के ठण्डे होने का दु ख कितना बडा है। 'कोई चीज कहाँ है और कैसे है ? का सही बोध ही मेरी रचना का धर्म है। इसी क्रम मे चीज को निर्वासन करने की बात भी महत्वपूर्ण है। चीज को नगा करना उद्देश्य नही, बल्कि उसके सही 'कद' को प्रस्तुत करने की एक प्रक्रिया मात्र है।" (नया प्रतीक—फरवरी, 1978 पृ० 3–4)।

धूमिल के उपर्युक्त वक्तव्य से उसकी कविता की भूमिका समझने मे सहायता होती है साथ-साथ चीजों के चौथे डायमेशन की खोज का मौलिक विचार भी स्पष्ट हो जाता है। प्रतिबद्धता धूमिल की वृत्ति नही थी। सलग्नता उसकी प्रकृति थी। प्रतिबद्धता और सलग्नता के बीच का भावात्मक विशेष अन्तर समझ लेने पर उसकी किसी भी कविता को समझना या उसकी परिभाषा-व्याख्या करना कठिन काम नही लगेगा।

अन्तत सारांश रूप मे इतना कहा जा सकता है कि—धूमिल कविता के बारे मे पूरी तरह से सचेत जागरूक था। कवि और कविता की शक्ति-सीमाओ को जानता हुवा भी उसकी सामाजिक आवश्यकता के प्रति आस्थावान् था। अपनी निजी अनुभूतियों को ईमानदारी के साथ अकित करना उसके लिये श्रेष्ठ कवि-धर्म था। उसकी कविता से इसी ईमानदारी के कारण पाठकों को कविता द्वारा वर्णित वस्तुओ

के चौथे डायमेशन के साथ पूरा और खरा बोध होता है। जितनी स्पष्टता उसकी कविता मे मिलती है, औरों की कविताओ मे शायद ही मिलेगी। इस स्पष्टता का मूल कारण कवि की हर वर्णित विषय के सम्बन्ध मे स्पष्ट धारणा मे था। जहाँ कही धारणागत द्वन्द्व या परस्पर विरोध मिलता है वहाँ कविताओ मे भी कुछ गुड्डम गुड्ड की प्रतीति स्वत ही उभरती है। ऐसे कुछ अवसर उसकी कविताओ मे दुर्लभ नहीं हैं। उनका सकेत आगामी पृष्ठो मे, उसकी कविताओ को बहुविध दृष्टि से परखने में स्वत ही होगा। कविता सम्बन्धी अपनी धारणाओ मे धूमिल इसलिये विशिष्ट समझा जाता रहा है कि उसने कविता को सार्थक वक्तव्य के रूप मे परिभाषित कर दिया है। सार्थक वक्तव्य कहने से कविता के अनेक गुण उपेक्षित रह जाते हैं। उसकी उक्त मान्यता पर बडी सार्थक टिप्पणी करते हुवे डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है —

> "यह भी सभव है कि कविता की पहचान मे ही इधर अन्तर हुवा है। कविता अधिकाश युवा लेखन मे अब 'अभिव्यक्ति' के बजाय या पहले 'वक्तव्य' मानी जा रही है। ऐसी स्थिति मे स्वभावत उसमे वक्तृत्व पर अधिक बल होता है। 'अकविता' लेखको ने अभिव्यक्ति की सिघाई की माँग की थी। अब धूमिल 'सही कविता' को 'एक सार्थक वक्तव्य' घोषित कर रहे हैं। वे यह भूल रहे हैं कि नारेबाजी और सचार माध्यमो की भरपूर सुविधा के इस युग मे तो वक्तव्य को भी सार्थक बनाये रखने के लिये कविता की रचनात्मक क्षमता अपेक्षित है। 'सार्थक वक्तव्य' और 'सही कविता' यानी बोलचाल और सप्रेषण एक अन्तर प्रक्रिया है, पर प्राथमिकता की दृष्टि से भाषा मात्र को सार्थक रखने के लिये 'वक्तव्य' की बजाय आज 'कविता' की अधिक जरूरत है।" (कविता-यात्रा—पृ० 105)

तो क्या सार्थक का उद्घोष करने वाले, चीजो के सही बोध को अपनी रचनाओ का धर्म कहने वाले धूमिल की कविता कविता' नहीं है? यदि इस प्रश्न का उत्तर खोजना हो उसकी समग्र रचनाओ की विशेषताओ का विवेचना करना होगा।

———

चतुर्थ अध्याय

सिर्फ टोपियाँ बदल गयी हैं

हमारा इतिहास साक्षी है—राजमुकुटों से बादशाहों के ताजों ने सत्ता छीनी। ताजों से फिरंगियों की हैटों ने सत्ता झपट ली। हैटों से सफेद टोपियों को सत्ता बख्श दी गयी। इन परिवर्तनों का प्रभाव शासकों के मस्तिष्क पर न के बराबर हुआ। स्वाधीनता के बाद भी सफेद टोपी से रंगीन टोपियां सत्ता ले उड़ी परन्तु इस युग में भी शासकों की नीयत और चरित्र में कोई लक्षणीय परिवर्तन नहीं आया। इसी विडम्बना को धूमिल ने भांपा था। जितनी साफसुथरी समझ उसे समकालीन राजनीति और राजनेताओं की थी उतनी और किसी विषय की शायद ही हो! इस पर भी, मेरी दृष्टि में धूमिल के काव्य और कवि सम्बन्धी चिन्तन के बाद ही उसकी राजनीतिक समझ को रखना उचित होगा। समकालीन राजनीतिक विडम्बनाओं को ही उसने अपनी कविताओं में स्थान दिया है। इसका कारण उसमें थोड़ी-बहुत अनास्थामय वृत्ति तो थी ही परन्तु उसके साथ-साथ उसकी समकालीन राजनीतिक स्थिति की विचित्रता भी उस अनास्था को उपजाने, बढ़ाने और अभिव्यक्ति पाने के लिए विवश करने वाली थी, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। उसकी समकालीन राजनीतिक प्रखर चेतना के प्रतीक के रूप में मैं केवल दो पंक्तियां उद्धृत करना चाहूँगा।

'हाँ यह सही है कि कुर्सियाँ वही हैं
सिर्फ, टोपियाँ बदल गयी हैं'

(म० 137)

उक्त पंक्तियाँ धूमिल की विख्यात कविता 'पटकथा' की हैं। पटकथा की राजनीतिक चेतना को स्वतन्त्र रूप से सोचने का विषय माना जा सकता है। परन्तु यहाँ उक्त पंक्तियों को मैंने उसकी राजनीतिक धारणाओं के प्रतीक के रूप में जिन कारणों से चुना है उनमें से एक का संकेत तो पहले ही कर चुका हूँ। बदली हुई टोपियों की बात तो हुई परन्तु कुर्सी का वही होना भी एक ऐतिहासिक महत्ता की बात है। पैतृक अधिकार के रूप में प्राप्त राजसत्ता को उपभोगने वाले किसी राजा

का सिंहासन हो पिता को बन्दीगृह में सड़ते रखकर या पितृव्य (चाचा) का कत्ल करके हथियाया गया किसी बादशाह का तख्त हो अथवा पाँच साल के लिए मिली निर्वाचित लोकप्रतिनिधि (राष्ट्रपति या मन्त्री प्रधानमन्त्री) की कुर्सी हो सभी में एक बात समान होती है—आसन के प्रति मोह आसक्ति। उसमें युग युग से कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। मुकुटों-ताजों-टोपियों के आकार प्रकार और रंग जरूर बदल हैं परन्तु सिंहासन तख्त कुर्सी (सत्ता) के मोह का गहरा रंग और मनमोहक रूप यथावत् बना रहा है। टोपी को सत्ताधारी का तो कुर्सी को सत्ता प्रतीक कहा जा सकता है। बचाए बनाए रखने की चीज़ कुर्सी है टोपी नहीं। सिर सलामत तो टोपी पचास अर्थात सूझबूझ हो तो टोपी का रंग और रूप बदलकर सत्ताधारी बनने के अवसर अवश्य होते हैं। परन्तु बैठने वाला सलामत तो कुर्सियाँ पचास कहना कठिन लगता है। वास्तविकता तो यह है कि कुर्सी सलामत तो बैठने वाले पचास।

जिन दिनों धूमिल ने कविताएँ लिखीं उन दिनों अपना देश बहुत ही विशिष्ट स्थितियों से गुजर रहा था। राजनीतिक और साहित्यिक क्षेत्र में अनुशासनहीनता के अपूर्व लक्षण प्रकट हो रहे थे। वे लक्षण आत्मघाती थे। राजनीति में घुसी सिद्धान्तहीनता सत्ता के प्रति अपार मोह खोखली नारेबाजी दिशाहीनता और जनतन्त्री व्यवस्था के नाम पर किया जाने वाला वर्ग और वर्ण विशेष की सत्ता बनाए रखने का प्रच्छन्न प्रयास सभी मिलकर देश की समाज को प्रगति की बजाय अधोगति की ओर ही ले जा रहे थे। स्वाधीनता के बाद स्वस्थ राजनीति और आदर्श राजनेता का जो चरित्र उभरने की (स्वाधीनता के पहले) आशा थी पूरी न हो पायी थी। समूची राजनीति का ही चरित्र बदला था। स्वाधीनता के पहले राजनीति में कदम रखने का अर्थ होता था—त्याग के लिए तैयार होना परन्तु स्वाधीनता के बाद राजनीति में प्रवेश करने का अर्थ होने लगा (सत्ता के) भोग का अधिकार स्थापित करना। किसी समय अविकसित समाज में सत्ता और सुन्दरी का उपयोग करने का अधिकार बलवान् का होता था। स्वाधीनता के बाद यही की सत्तारूपी सुन्दरी को भोगने का अधिकार स्वाधीनता के लिए बने बलिदान को मिलता रहा देश की आजादी के लिए जो जितने अधिक दिन और जितनी अधिक बार कारागार में गया वह स्वाधीनता के बाद सत्ता का उपभोक्ता बनने का उतना ही बड़ा अधिकारी माना गया स्वाधीनतापूर्व किए त्याग को स्वाधीनता के बाद सत्ता के भोग के रूप में भुनाने का अधिकार माना गया। सत्ता के साथ सम्पत्ति सम्पन्न हुई और धन की ललाम का गति सुरा और सुन्दरी के विरकालिक पतन की गत में फँसकर हा यथास्थिति का प्राप्त हो गयी। इसी यथास्थिति ने जन के चरित्र को पहले तो बनने सँवरने नहीं दिया और बना-सँवरा भी तो उसे विकृत साँचे में ढाल दिया। देश के इस स्वाधीनता के बाद के पतन का एहसास धनी के बुद्धिजीवियों का जिनमें साहित्यिकों का महत्त्व निर्विवाद और सर्वोपरि है सबसे पहले हुआ

परन्तु दुर्भाग्य से वे उक्त पतन के विरोध मे मोर्चा बाँध न सके । जब उन्होंने मोर्चा बाँधा और अपने खेमे से भ्रष्ट राजनीति और राजनेताओं पर व्यंग्य के अस्त्रों से आक्रमण शुरू किया तब तक समय हाथ से निकल चुका था । स्थिति यहा तक खराब हुई थी कि राजनेताओं के दोषो को ही गुणों के रूप मे समाज स्वीकृति दे चुका था । अत राजनेता होने का मतलब कुछ छोडने का न होकर बहुत कुछ जोडने का हो गया था। ऐसी स्थिति मे बुद्धिजीवियो का सत्ताधारियों के भ्रष्टाचार के प्रति विरोध 'विद्रोह' की अपेक्षा 'आक्रोश मात्र बन कर रहा हो तो आश्चर्य नही ।

स्वाधीनता के बाद की राजनीतिक विफलता 1962 के चीनी आक्रमण में हुई हमारी लज्जास्पद पराजय में विकट रूप में प्रकट हुई । तब तक देश के अन्तर्गत विकास कार्य मे भी बहुत कम सफलता हाथ लगी थी परन्तु विशाल जनसख्या और सुविस्तृत क्षेत्र के होने के बहाने बनाकर उसे सह्य बनाया गया था । चीन से हुए सघर्ष मे हुई हमारी हार का किसी भी तरह के तर्कों से समर्थनीय नहो बनाया जा सकता था अत इससे एक देशव्यापी विक्षोभ फूट पडा । इसी मन स्थिति में हमारे देश की आन्तरिक स्थिति का भी मूल्याकन हुवा और यह पाया गया कि हमारी स्थिति एक भिखारी स बदकर नही है । दुनिया की बिरादरी मे हमारा देश ऋण लेने वाला मे सबसे आगे है । आर्थिक ही नही बल्कि अनाज की सहायता लने वालो मे भी हम सुजला-सुफला भूमि के निवासी सबसे आगे हैं । यह आत्म-बोध यहाँ के सोचने-विचारने वाले वग को काफी क्चोट गया पीडा दे गया, परिणामत साहित्य मे समकालीन राजनीति के विरोध मे कुछ स्वर सुनायी देने लगे । उन स्वरों का कोई महत्व नही था क्योकि महत्व-प्राप्त साहित्यिक उन दिनो आयातित शाश्वत कलात्मक मूल्यो का अँटोतल बायकर चलने वाले, कभी खत्म न होने वाली सृजन की वृत्ताकार राह के, यात्री थे, जिनकी दृष्टि अपनी समकालीन, आसपास की विकट समस्याओं तक पहुँच हो नही पाती थी । यदि कोई उन्हे उन समस्याओ के बारे मे बता भी देना तो उनकी तात्कालिकता के बोध से उन्ह वे विचारणीय समझने का भी तैयार नही थे ।

वस्तुत वह समय स्वाधीनता के बाद के 15–20 वर्षों का, एक ऐसा विचित्र समय था जब कि यहाँ का राजनीतिक नेतृत्व घर की दु स्थिति को भुलाकर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को, घर के असन्तोष को नजरदाज करके विश्वशान्ति के विचार को अधिक तरजीह देने मे गौरव का अनुभव करता था । इस वैचारिक उदारता मे यहाँ का साहित्यिक क्यों पीछे रहता । अवर्षण अतिवर्षा, आँधी तूफान और भूचाल जैसी प्राकृतिक विपदाओं के शिकार अपने देशवासियों के दुख दर्द की ओर ध्यान देने की अपेक्षा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न सामाजिक मूल्यो के

विघटन की समस्या को उसने सर्वोपरि स्वीकार कर लिया था और उसी की चिन्ता में वह रातदिन घुलता रहता था।

एक और दृष्टि से उक्त समय बड़ा विचित्र था। कृषि प्रधान देश की जनता का जठर आयातित अमरीकी अनाज का मुँहताज था तो मस्तिष्क आयातित रूसी वर्गवादी चेतना से सवलित होता जा रहा था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पूँजीवादी और साम्यवादी खेमों में बटी दुनिया में निरन्तर चलते शीतयुद्ध का जैसा दुष्परिणाम हमने भोगा वैसा और किसी ने नहीं। इसी का परिणाम था 1962 के युद्ध में हमारी पराजय! उक्त पराजय में हमारी तत्कालीन तटस्थता की विदेशनीति भी कम महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा नहीं कर गयी। स्वाधीनता के बाद के बौद्धिक दीवालियेपन को निर्भीक शब्दों में अंकित करते हुए शिवप्रसादसिंहजी ने लिखा है—

स्वतन्त्रता के बाद का भारतीय बौद्धिकों का इतिहास सिर्फ आत्मबल के ह्रास का इतिहास है। स्वतन्त्रता का सही अर्थ हमारे देश ने आज तक भी नहीं समझा। कारण शायद यह था कि हम स्वतन्त्रता की प्राप्ति में खूनी संघर्षों के भीतर से काफी गुजरना नहीं पड़ा। स्वतन्त्रता के बाद विश्वमत और अन्तर्राष्ट्रीयता की चर्चाएँ नये सिरे से शुरू हुईं। हमने अपने को लोकतन्त्र घोषित किया और इस घोषणा मात्र से आश्वस्त हो गये कि चूँकि हम लोकतन्त्र हैं इसलिये हमारी तरक्की और प्रगति के लिए विश्व के सभी समृद्ध लोकतन्त्र स्वभावतः उत्तरदायी हैं। स्वतन्त्रता के बाद भारतीय इतिहास के अध्याय का सिर्फ एक ही शीर्षक हो सकता है—शर्मनाक भिक्षाचार। इस भिक्षाकाल की सबसे बड़ी याचक मुद्रा का नाम है 'तटस्थता'। मैं सहअस्तित्व तटस्थता, धर्म निरपेक्षता आदि का सिर्फ प्रशंसक ही नहीं बल्कि उन्हें जीवित मूल्य मानकर उनके लिए सब कुछ सहने भोगने का संकल्प भी रखता हूँ, किन्तु मैं जिस 'तटस्थता' की बात कर रहा हूँ वह कोई मूल्य नहीं है। दोनों ही शिविर के दशों से अधिक से अधिक कर्ज पाने की यह याचक मुद्रा है जो दानात्मा के अपराधों और उत्पीड़नों से सन्त्रस्त मनुष्यता का सही समर्थन देने में हमेशा कतराती रही है। इसके प्रति मेरे मन में जुगुप्सा है।

(आधुनिक परिवेश और नवलेखन—(पृष्ठ-7)

धूमिल के रचनाकाल की राजनीतिक स्थिति और एक दृष्टि से विशेष मानी जा सकती है। चीन के साथ हुए संघर्ष में हुई हमारी पराजय का कलंक धो डालने का अवसर 1965 में हुए पाकिस्तान भारत युद्ध से मिला। उक्त युद्ध में मिली विजय से केवल सेना का ही नहीं बल्कि जनसाधारण का भी मनोबल ऊँचा हुआ। वस्तुतः 1965 तक आते-आते स्थितियाँ बहुत बदल चुकी थीं। 1962 की पराजय से झकझोरा गया भारतीय जनमानस 1965 के युद्ध के समय राष्ट्रीय एकता का अर्थ बहुत कुछ दुरुस्त रूप से समझने लगा था। मुझे याद है कि मेरे औरंगाबाद

जैसे छोटे-से शहर में भी जब तत्कालीन प्रधानमन्त्री स्व० लालबहादुरशास्त्री युद्ध-विजय के बाद आये थे तो उनके स्वागत में उमडी भीड आज तक (19 9 तक) तो अपूर्व होने की दावेदार है। और मैं यहाँ के अपने 2 वर्षों के सजग निवास के अनुभव पर यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि वह भीड 'न भविष्यति' ही रहेगी। उनके स्वागत में आयी जनता दूरदराज के देहातों से बैलगाडियों में भरभर कर यहा पहुँची थी। शिवाजी मैदान के आसपास बैलगाडियो को खडा किया गया था। व्याख्यान देते हुए—जनता को सम्बोधित करते हुए—उस छोटे-से कद और महान् व्यक्तित्व वाले नेता ने जब ये शब्द कहे कि "किसान भाइयो, मैं बैलगाडियो की बदनामी नही करना चाहता। मुझे आप क्षमा करेंगे तो मैं कहना चाहता हूँ कि हमारे जवानो ने तोडे हुये पाकिस्तानी पैटन टैंक ठीक उसी तरह बिखरे पडे हैं जैसे इस मैदान के आसपास मे आपकी बैलगाडियाँ।" इस पर जनता ने जो तुमुल हर्षध्वनि की थी, तालियाँ बजायी थी उन्हे सुनने की मेरी इस तुच्छ जिन्दगी की सर्वोपरि रोमाचक और महान् अनुभूति थी। उक्त प्रसग को मैंने हेतुत विस्तार दिया है। कहना यह चाहता हूँ कि 1965 तक यहाँ के जनसाधारण मे राजनीतिक चेतना का सर्वव्यापी तो नही परन्तु पहले की अपेक्षा अधिक विस्तार हो चुका था।

1965 की विजय एक ऐसा अवसर था जो इस निर्धन देश का भाग्य पलट देता। परन्तु क्रूर नियति ने आधुनिक युग मे चौथी बार वह अवसर हम से छीन लिया। 1857 का स्वाधीनता सग्राम पहला अवसर था, देश के उद्धार का, जो पराजय मे बदलकर छिन गया। 1947 की स्वाधीनता 'तुम मुझे खून दो मैं तुम्हे आजादी दूँगा' कहने वाले सुभाषचन्द्र के कन्ध पर रखी बन्दूक की नली से निकल आती तो अच्छा होता परन्तु ऐसा नही हुवा। वह गाधीजी के तीन बन्दरो के कन्धो पर होकर आयी जिससे मिली सत्ता की राजनीतिको ने आपस मे बन्दर बाँट करने के लिए उन तीनो ब दरो की हत्या ही कर डाली। तीसरी बार अवसर हाथ से तब निकल गया जब दूसरे घर की अपेक्षा अपने घर की चिन्ता करने वाला सरदार वल्लभभाई पटेल पहला प्रधानमन्त्री न बन सका। और अब चौथा मौका उस वक्त हाथ से निकल गया जबकि 'जय जवान और जय किसान' का सार्थक नारा देने वाला हममे न रहा। किसान पिता का पुत्र जवान। उसकी जय पहले क्योंकि वह अपने समाज की और अपनी धरती की रक्षा के लिए, लाज रखने के लिए आठो पहर आत्मउत्सर्ग के लिए उद्यत होता है। उसके बाद उस किसान पिता की जय जो धरती से पूर्ण ब्रह्म जैसा पवित्र अन्न और धरती की कोख से वीर बहादुर जवान-पुत्रो को उत्पन्न करता है। कैसी महान सार्थकता थी उस नारे मे। मैं जब-जब लालबहादुर के व्यक्तित्व को याद करता हूँ, न जाने कैसी अनाम, अथाह व्यथा छू जाती है अन्त करण को। यदि उस व्यक्तित्व के प्रभाव से भारतीय अस्पृष्ट रह

जाता तो ही आश्चर्य होता। मेरे प्रिय कवि धूमिल की भावनाएँ भी उक्त श्रेष्ठ व्यक्तित्व के प्रति अप्रकट नहीं रह सकी है। उनकी चर्चा आगे के पृष्ठों में, उचित प्रसंग पर अवश्य होगी। धूमिल की कविताओं में राजनीतिक बोध व्यंग्य बनकर उभरा है। राजनेताओं की विफलताएँ कटु आलोचना की पात्र नहीं हो सकती यदि उनके प्रयासों में ईमानदारी हो स्वाधीनता के बाद की राजनीति और राजनेता उनकी असफलताओं के कारण कम और चारित्रिक विचित्रताओं के कारण अधिक व्यंग्य-उपहास के पात्र बने हैं। जब से राजनीतिक व्यंग्य लिख जा रहे हैं तब से राजनेताओं की सत्तालोलुपता भाई भतीजावाद जाति-पाँति, भाषा-क्षेत्र-गत संकुचित वृत्ति आदि बुराइयों को तो लक्ष्य बनाया गया ही है, इनके साथ साथ कच्ची सूझ की भी खूब खिल्ली उड़ती रही है। लोकतन्त्र के कारण साधारण जनता से नेतृत्व उभरा है। साधारण का अर्थ शिक्षा दीक्षा और संस्कारगत साधारणता से ही लिया जा सकता है। यह नेतृत्व चौकस बुद्धि, गहन जिज्ञासा और ज्ञान लालसा के घोर अभाव के कारण अपने को प्रगत समय के साथ सम्बद्धित नहीं रख सका यह वस्तुस्थिति है। अर्थात् यह बात 'दूसरी आजादी' तक के समय के लिए विशेष रूप से सच कही जा सकती है। यही कारण था कि राजनीतिक व्यंग्य में राजनेता के अज्ञ होने हर बहुत बार ध्यान दिया गया। परन्तु धूमिल के काव्य में यह बात नहीं के बराबर है। वस्तुतः किसी के अज्ञान की खिल्ली उड़ाना, उपहास करना एक छिछला अपराध ही कहा जा सकता है। अज्ञान केवल नेताओं के लिए ही नहीं, समूची जनता के लिए अभिशाप है। इसकी चर्चा अगले किसी अध्याय के अन्तर्गत करूँगा।

राजनीतिक बोध में व्यंग्य स्वर उभरने का एक और महत्वपूर्ण कारण होता है—राजनयिकों की निरर्थक नारेबाजी। इसका भी धूमिल ने कई बार उल्लेख किया है। हम देखते हैं कि उसकी कविताओं में राजनेताओं का दोगलापन समसामयिक राजनीतिक घटनाओं की आलोचनाएँ, नेताओं की चरित्रहीनता, सत्ता के दावेदारों की सत्ता बनाए रखने के लिए की गयी दुरभिसंधियाँ निर्वाचित प्रतिनिधियों का अकतव्य-बोध, पचवर्षीय योजनाओं की विफलता, साम्राज्यवादी महाशक्तियों के हथकंडे और क्रान्ति भावना की निरर्थकता का खूब वर्णन मिलता है। इसे ही हम उसका राजनीतिक बोध या राजनीतिक चेतना के रूप में देखेंगे तो उसकी रूप-रेखा कुछ इस तरह अंकित की जा सकती है—

धूमिल की राजनीतिक चेतना प्रारम्भ होती है स्वाधीनता के बाद के समय के बारे में सोचने से। जब कभी उसने उक्त विषय पर सोचा है उसे निराश ही होना पड़ा है। एक असह्य सी स्थिति को जन्म देने वाली राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था को देखकर उसने लिखा—

'बीस साल बाद
मैं अपने आप से एक सवाल करता हूँ—
जानवर बनने के लिए कितने सब्र की जरूरत होती है ?
और बिना किसी उत्तर के चुपचाप
आगे बढ़ जाता हूँ।

(स० 11)

धूमिल अपने समय की राजनीतिक स्थिति से क्षुब्ध होता है कि जिसे बुलन्द रखने के लिए अनेक देशभक्तों ने प्राण त्यागे, जो हमारी स्वाधीनता का प्रतीक बना उस तिरंगे ध्वज के प्रति भी उसकी आस्था डगमगा जाती है। स्वाधीनता के बाद बीस वर्षों का समय निकल चुका फिर भी देश और देशवासियों की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। वही स्वाधीनतापूर्व की स्थिति ज्यों कि त्यों बरकरार रही। पुलिस का दमन, गोलाबारी, लोक जीवन में आपाधापी, सब कुछ पूर्ववत् ! तो कवि के सामने प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि—

"बीस साल बाद और इस शरीर में
सुनसान गलियों से चोरों की तरह गुजरते हुए
अपने आप से सवाल करता हूँ—
क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है
जिन्हें एक पहिया ढोता है
या इसका कोई खास मतलब है ?"

(स० 12)

आखिर उपर्युक्त प्रश्न किन कारणों से उत्पन्न होते हैं ? क्या कवि की जनतंत्र में अनास्था इसका मूल कारण है ? या फिर उसने जो कुछ देखा, सुना, सहा और भोगा उसने उसे ऐसे तल्ख विचारों तक पहुँचा दिया है ? ये दो प्रश्न बाह्यत विभिन्न होकर भी एक ही जैसे हैं। महाभारत का वह प्रसंग मुझे यहाँ याद आता है जबकि श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर और दुर्योधन से, सबसे बुरे और सबसे भले व्यक्ति की खोज लाने का अनुरोध किया था, तब युधिष्ठिर को कोई बुरा आदमी न मिला था और दुर्योधन को कोई भला आदमी न मिला था, हालांकि दोनों ने एक ही मानव समूह में खोजबीन की थी ! यह दृष्टि का अन्तर है। यह दृष्टि जीवन में भोगे यथार्थ से बनती है यह कहना महाभारतकार को झुठलाना होगा। युधिष्ठिर को कौनसी ऐसी सुविधाएँ मिलती रहीं थीं जिनमें उन्हें सभी के भलेपन में विश्वास जागा हो ? दुर्योधन को कौनसे ऐसे अन्यायों का, अत्याचारों का सामना करना पड़ा था जिसने उसको सभी के भलेपन में अविश्वासी बनाया हो। ऐसे समय, मैं समझता हूँ कि हम दृष्टि को अपने से बाहर निकाल कर देखने का संस्कार काम

कर जाता है। धूमिल ने अपने से बाहर आकर भी देखा तो उसे वहाँ वही सब कुछ दिखायी दिया जिसे उसने स्वयं मे झेला था। यही कारण था कि उसने लिख दिया—

> 'सिर कटे मुर्ग की तरह फड़कते हुए जनतन्त्र मे
> सुबह—
> सिर्फ चमकते हुए रंगो की चालबाजी है।'
>
> (स० 15)

और यह चालबाजी कवि की समझ मे तभी आती है जब वह कहता है कि—

> 'उस मुहावरे को समझ गया हूँ
> जो आजादी और गांधी के नाम पर चल रहा है
> जिससे न भूख मिटी है, न मौसम
> बदल रहा है।'
>
> (स० 18)

धूमिल की उपर्युक्त टिप्पणी की तीखी सार्थकता तो हम तभी समझ सकते हैं, जबकि आज 32 वर्षों की स्वाधीनता का समय बीत जाने पर भी, हम देखते हैं कि भूख मिटने की बात तो दूर की रही हर किसी की प्यास मिटाने का प्रबन्ध भी नही हो सका है। यदि यह आजादी हिटलर के नाम आती तो कम-से-कम आधी आबादी का 'रक्त की श्रेष्ठता के सन्देह' पर सफाया होता और शेष आधी आबादी या तो भूख-प्यास मिटाने के प्रबन्ध आज तक कभी का कर डालती या फिर यह भी सम्भव था कि खून की प्यास मे वह पानी की प्यास को भूला ही बैठती। जैसे आयतुल्लाह खुमैनी के इस्लामी ईरान की जनता भूला बैठी है। परन्तु इसे तो दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि हमारी आजादी गांधीजी के नाम से जुड़ी है और हमारे राजनेता जो कुछ भी कर रहे है उसी विभूति का नाम लेकर करते जा रहे हैं। गांधीजी जो समाज के चिर उपेक्षितों का उद्धार चाहने वाले, दलित-से दलित समाज से आये सुयोग्य व्यक्ति को सत्ता का सर्वोच्च पद सौंपने की कामना करने वाले और श्रम तथा श्रमजीवियों के प्रति समाज में आदर का भाव उत्पन्न करने का प्रयास करने वाले महात्मा थे, उन्हीं के नाम पर चलने वाली हमारी यह सरकार चाहे केन्द्र की हो चाहे प्रदेश की—जब भूख मिटा नहीं पाती तो उसके बारे मे मन-अन्तःकरण मे आस्था कैसे रह पाएगी? ऐसी आस्थाहीनता की स्थिति भी एक बार व्यक्ति को राजनीति और राजनेताओं के प्रति तटस्थता की वृत्ति धारण करना सिखा सकती है परन्तु धूमिल के मन मे इस स्थिति मे मात्र कोई चीज सच है तो वह है नफरत। उसने लिखा है—

धुएँ से ढके हुए
आसमान के नीचे
लगता है कि हर चीज
झूठ है
आदमी
देश
आजादी
और प्यार
सिर्फ नफरत सही है

(स॰ 94)

किसी भी देश की आजादी तभी सार्थक हो सकती है जब कि उस देश की जनता सड़े-गले आसन्नभूत से विच्छिन्न होकर नव-निर्माण की भावना से वर्तमान को आकार देने में जुट जाती है। अपनी हीन भावनाओं को झटक कर आत्म सम्मान की भावना से भर जाती है और अपने वर्तमान के उज्ज्वल होने के प्रति आस्थावान् हो उठती है। परन्तु दुर्भाग्य से इस देश की आजादी ऐसा सुखद परिवर्तन इस देश की जनता में ला न सकी। स्वाधीनता के तुरन्त बाद का एकाध दशक हम संक्रमण-काल के रूप में जानकर छोड़ भी दें तो भी दूसरे दशक के अन्त तक तो कम-से-कम यहाँ के वर्तमान में कुछ अच्छे लक्षण दिखायी देने थे। परन्तु दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हो सका। आजादी के बीस वर्षों बाद भी आजादी के पहले की स्थिति से भी बदतर स्थिति उत्पन्न हुई। स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए विदेशी सत्ता के साथ संघर्ष करने का ध्येय तत्कालीन युवा पीढ़ी को प्रेरणा दे जाता था परन्तु आजादी के बाद कोई महान् लक्ष्य यहाँ के होनहारों के सामने न रहा। लक्ष्यहीन-ध्येयहीन युवा पीढ़ी अकर्मण्य बन गयी और यदि उसमें कुछ कर्म करने के लक्षण भी दिखायी दिये तो उन कर्मों का उद्देश्य महान् न रहा। अपने इस प्रकार के विचित्र वर्तमान का, कुछ अधिक कठोर शब्दों में वर्णन करते हुए धूमिल ने लिखा—

" वतमान की वजबजाती हुई सतह पर
हिंजड़ों की एक पूरी पीढ़ी लूप और अन्धाकूप के मसले पर
बहस कर रही है
आजादी—इस दरिद्र परिवार की बीससाला 'बिटिया'
मासिक धर्म में डूबे हुए क्वारेपन की आग से
अन्धे अतीत और लगड़े भविष्य की
चिलम भर रही है"

(स॰ 34)

स्पष्ट है जो पीढी अपने वर्तमान को ठीक नही कर पाती वह अच्छे भविष्य का निर्माण कहाँ से कर सकती है ? कवि अपने समय की युवा पीढ़ी के प्रति, उसकी दिशाहीनता के प्रति क्षुब्ध है, क्रुद्ध दिखायी देता है। आखिर कवि के इस आक्रोश, (हाँ आक्रोश ही कहूँगा, क्योकि उसी के शब्दो मे—

"मेरा गुस्सा—
जनमत की चढी हुई नदी मे
एक सडा हुवा काठ है"

(स० 28)

तो इस के क्या कारण हो सकते हैं ? कवि के उक्त आक्रोश के कारण भी उसकी कविताओ मे मिलते हैं। उसे लगता है कि उसकी व्यवस्था मे ही कोई मूलभूत गडबडी है। हमारे प्रजातन्त्र मे ही कोई ऐसी कमी है जो उसे यह सोचने पर विवश कर देती है कि—

मैं उन्हें समझाता हूँ—
वह कौनसा प्रजातान्त्रिक नुस्खा है
कि जिस उम्र मे
मेरी माँ का चेहरा
झुर्रियो की झोली बन गया है
उसी उम्र की मेरी पडोस की महिला
के चेहरे पर
मेरी प्रेमिका के चेहरे-सा
लोच है

(सं० 20)

इस सारी विपरीत व्यवस्था की जड मे धूमिल को अनेकानेक कारण दिखायी देते हैं। सबसे बडी बात तो उसे यही लगती है कि इस अव्यवस्था या फिर उल्टी व्यवस्था के पीछे राजनेताओ—शासको—की दुरभिसन्धि है। यहाँ की जनता के विरुद्ध उनका एक गहन षड्यन्त्र है। इसकी नीव उसी समय पडी थी जिस समय प्राप्त स्वराज्य को सुराज्य मे बदलने की घोषणा हुई थी। स्वराज्य से प्राप्त वालो की ईमानदारी पर शक करना बेकार है लेकिन सुराज्य की स्थापना करने वालो की नीयत मे शक करने की गुंजाइश थी। क्योकि वे लोग चालाक थे, वे लोग उसी सामाजिक वर्ग से सम्बन्धित थे जिनके पूवजो को सत्ता की सूनी चस्का पडा था और वे भी अपने पुरखो के अनुकरण मे कोई कमी न रहने देना चाहते थे। कवि लिखता है—

'मगर चालाक 'सुराजिये'
आजादी के बाद के अन्धेरे में
अपने पुरखो का रगीन बलगम
और गलत इरादो का मौसम जी रहे थे
अपने-अहने दराजो की भाषा मे बैठकर
गर्म कुत्ता खा रहे थे
सफेद घोडा पी रहे थे
उन्हें तुम्हारी भूख पर भरोसा था
सबसे पहले उन्होने एक भाषा तैयार की
जो तुम्हे न्यायालय से लेकर नींद से पहले
की—
प्रार्थना तक, गलत रास्तो पर डालती थी
'वह सच्चा पृथ्वी पुत्र है'
'वह ससार का अन्नदाता है'
मगर तुम्हारे लिए कहा गया हर वाक्य
एक धोखा है जो तुम्हे दल की ओर
ले जाता है ।"

(स० 51)

धूमिल की दृष्टि मे इस देश के सुराजिये—नेता—बडे चालाक हैं। केवल चालाक कहने से काम नही बनता उन्हे काइयां कहना ठीक होगा। जनता की—श्रमजीवियो की—तारीफ करके ही वे चुप रहते तो भी कोई बात नही थी। इससे भी आगे बढकर उन्होंने साधारण जनता की नब्ज जानली है और लिए कई तरह के 'इन्तजामात' भी कर रखे हैं। जैसे—

उन्होंने सुरक्षित कर दिए हैं
तुम्हारे सन्तोष के लिए
पडोसी देशो की
भुखमरी के किस्से
तुम्हारे गुस्से के लिए
अखबार का
आठवाँ कालम
और तुम्हारी ऊब के लिए
'वैष्णव जण तो तेणे कहिए' की
नमकीन धुन

गरज यह कि तुम्हें पूरा काम करने का
पूरा इन्तजाम है

(स० 98-99)

समझदार देशवासियों के लिए पत्रकारिता की स्वतन्त्रता और पड़ोस के देश की गरीबी के किस्सों का प्रचार अपनी विकृत व्यवस्था के प्रति विद्रोही बनने से बनने से रोकने के कारगर उपाय हैं। व्यवस्था के प्रति मन में होने वाला असंतोष अखबारों में अभिव्यक्ति पाकर कुछ ठण्डा पड़ ही जाता है भले ही उसे अखबार के अन्तिम कालम में क्यों नहीं प्रकाशित किया जाता। पड़ोसी देशों की गरीबी के किस्से भी अपने अभाव ग्रस्त जीवन के लिए जिम्मेदार राजनीतिक स्थिति के प्रति उत्पन्न होने वाले क्षोभ को शान्त कर देते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। कहते हैं कि दूसरों के दुखों को देखकर मनुष्य अपना दुख कुछ हल्का समझने लगता है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कथा में मानवी मन की इस कमजोरी को बड़े ही कलात्मक ढंग से अभिव्यक्ति मिली है। कहानी का सार यही है कि 'एक देहाती बुढ़िया की बकरी बाढ़ में बह गयी तो वह विलाप करने लगी। उसे सांत्वना देने वालों की बहुत सारी कोशिशें बेकार गयीं तो एक मानव मन का रहस्य जानने वाला सामने आया और उसने उस बुढ़िया से कहा कि क्यों विलाप करती हो? तुम्हारी तो सिर्फ एक बकरी बह गयी। तुम्हारे देवर के तो चारों जानवर बह गये।' बुढ़िया की हाय-तोबा बन्द हुई। उसी आदमी ने पुनः कहा—और सुनो, तुम्हारी जेठानी का तो घर बह गया। यह सुनकर बुढ़िया के चेहरे पर समाधान की रेखा खिंच गयी। हम लोगों के साथ आज तक यही कुछ होता रहा है।

कभी पाकिस्तान की जनता की मुफलिसी के किस्से प्रचारित करके तो कभी चीन की जनता की व्यक्तिस्वातन्त्र्य की आकांक्षा को नष्ट करने की कहानियाँ प्रसारित करके हम यह सोचने के लिए उकसाया जाता रहा कि हम कितने सुखी हैं। हम कितने स्वतन्त्र हैं। और तो और प्रशासनिक भ्रष्टाचार को देख-अनुभव करने से होने वाले आन्तरिक विक्षोभ को निर्मूल करने लिए नेहरूजी के शासनकाल में एक किस्सा प्रचारित हुआ था—'हमारे पास भ्रष्टाचार की बातें बेकार की बढ़ चढ़ कर बनायी जाती हैं जबकि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। एक उदाहरण देखिए। यदि लटिन अमरीका के किसी देश में विकास योजना पर एक सौ रुपिया का खर्च किया जाता है तो केवल एक रुपिये का काम प्रत्यक्ष रूप में होता है। शेष निन्यानबे रुपिये प्रशासनिक खर्च में और घूस गबन आदि में चले जाते हैं। हमारे यहाँ इसके विपरीत सौ रुपिया के खर्च करने पर एक नहीं दस रुपिया का विकास का काम हो जाता है। इस दृष्टि से हम औरों की तुलना में दस गुना अधिक ईमानदार हैं। इस तरह के किस्से जनता के लिए तो कोई लाभ पहुँचाने वाले नहीं होते परन्तु इनसे चालाक शासक अवश्य लाभान्वित होते हैं। धर्मप्राण भारतीय जनता की

श्रद्धा के लिए 'वैष्णव जन तो का उद्घोष सिवाय दैववाद और ईश्वरेच्छा की चाह के और कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता। परिणाम यह हो जाता है कि सौ-सौ बार रक्तरंजित क्रांति होने योग्य स्थितियों में भी इस देश की जनता हाथ पर हाथ धरी बैठी रहती है क्योंकि यहाँ की जनता के लिए क्रांति, कवि के ही शब्दों में—

"क्रांति
किसी अबोध बच्चे के—
हाथों की जूजी है।"

(स० 20)

इससे अधिक तीखा राजनीतिक व्यंग्य और क्या हो सकता है। यहाँ की भ्रष्ट व्यवस्था को बनाये रखने का दायित्व केवल शासकों की चालाकी पर ही नहीं है बल्कि उसे बनाए रखने में यहाँ की जनता की क्रांति के प्रति अबोधता का भी हाथ कम महत्वपूर्ण नहीं है।

वस्तुतः इस देश के शासकों द्वारा चलाया जाने वाला जनतन्त्र एकदम बेमानी है। यदि उसमें मानी ही ढूँढने निकलो तो हाथ आने वाले परिणाम अत्यन्त भयंकर होते हैं। धूमिल ने जनतन्त्र के उसी भयानक अर्थ का संकेत बड़ी साहसिकता के साथ करते हुवे लिखा है—

"उन्होंने जनता और जरायमपेशा
औरतों के बीच की
सरल रेखा को काटकर
स्वस्तिक चिह्न बना लिया है
और हवा में एक चमकदार गोल शब्द
फेंक दिया है—'जनतन्त्र'
जिसकी रोज सैंकड़ों बार हत्या होती है
और हर बार
वह भेड़ियों की जुबान पर जिन्दा है।"

(स० 84)

धूमिल के उक्त विचारों को पढ़ जाने पर एक सहज जिज्ञासा यह जागती है कि राजनेता के बारे में उसकी धारणाएँ कैसी थीं? केवल 'चालाक' कहने से तो कुछ काम नहीं बनता। वस्तुतः राजनेताओं के बारे में, उनके चरित्र और चारित्र्य के बारे में भी कवि की धारणाएँ स्फटिकवत् साफ-साफ थीं। समग्र राजनीति के बारे में ही उसका मत था कि—

"लाल हरी झण्डियाँ —
जो कल तक शिखरों पर फहरा रही थीं

वक्त की निचली सतहों मे उतरकर
स्याह हो गयी हैं और चरित्रहीनता
मन्त्रियो की कुर्सियो म तब्दील हो चुकी है'

(स० 47)

तथा

'सुविधापरस्त लोगो क
ऊसर दिमाग में
थूहर की तरह उगी हुई राजनीति
शब्दो से बाहर का व्याकरण है'

(स० 106)

राजनीति का इससे अधिक सटीक व्यग्यात्मक वर्णन और कोई शायद ही करा गया हो। समय समय की बात है कि कैसा परिवतन हो गया है। जनकल्याण की भावना से चलाया जाने वाला लोकतत्र किस पतन की खाई मे जा गिरा है। जिन मन्त्रियो को लोकहितकारी होना चाहिए था व ही लोकाहित से सलग्न हो गय हैं। उनका चरित्र जाता रहा है और उनक पद साक्षात् चरित्रहीनता बनकर रह गय हैं। राजनीति की इस चरित्रहीनता का दाग निवारण किसी भी स्थिति म सम्भव नही लगता। इसका कारण यह है कि स्वय राजनीति किसी शालीन सामाजिक वग क विषय नही रही है बल्कि सुविधा परस्ता के हाथो मे खेल रही है। सुविधा-परस्त लोग सोच समझ के क्षत्र मे बजर भूमि जैसे होने हैं। उनकी बुद्धि म राज-नीति का कोई अच्छा रूप साकार हो ही नही सकता। उनकी बुद्धि म उग आयी राजनीति थूहर की तरह होती है। थूहर ऐसी वनस्पति होती है जिस आदमी तो आदमी जानवर तक खा नही सकते। फिर भी उसकी एक विशेषता यह होती है कि वह बिना विशेष देखभाल के रखरखाव के बढती रहती है। यदि उसे उपजाऊ भूमि पर तरतीब देकर उगाया जाय तो मूल्यवान फसल की, चौपायो से रक्षा करने के लिए उसका फेंस क रूप म प्रयोग किया जा सकता है परन्तु बजरभूमि पर बेतरतीब उगने वाला थूहर एक ऐसी अनुपयुक्त वस्तु का प्रतीक बनकर रह जाता है जो हर स्थिति म अवांछनीय लगता है। इसी थूहर के साथ समकालीन राजनीति का तालमेल कर धूमिल ने राजनीति की लोकहित की दृष्टि से निरथकता को उसक समग्र रूप म उभाडा है।

ऊसर दिमाग वाले राजनेता आज के हमारे जीवन के विद्रूप और शोक क लिए उत्तरदायी हैं। सच तो यह है कि इस देश क मेहनतकशों का चरित्र नहीं बदला है उनकी मेहनत मशक्कत का रूप भी नहीं बदला है और न ही बदला है

मेहनत के साधनों का लक्ष्य! आज का भी बढ़ई लकड़ी का काम ही करता है सुनारी नहीं करता, आज का भी सुनार दीवार नहीं बनाता सुनार का काम ही करता है और आज का भी घड़ीसाज चप्पलों में कील नहीं ठोकता, घड़ी ही ठीक करता है। आज का बसूला और आरी अपने-अपने काम ही करते हैं—लकड़ी काटने-छीलने और छेद करने के, फिर भी क्या कारण है कि हमारे आज के जीवन में कहीं-न-कहीं खोट होने की साधार आशंका हमें सदैव सताती है? इसका उत्तर भी धूमिल की राजनीति के भ्रष्ट होने में ही मिलता है। जनतन्त्र की शासन पद्धति में विपक्ष की भूमिका उस अंकुश सी होनी चाहिए जो जनता रूपी महावत के हाथ में हो और जो सत्ताधारी पक्ष सत्तामद से बौराकर बेकाबू न होने पाय इसी के लिए प्रयुक्त हो। परन्तु जिस जनतन्त्र में विपक्ष भी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए सत्ताधारी पक्ष से मिलीभगत कर बैठे उस जनतन्त्र की जनता को तो भगवान ही बचाये। सत्ताधारी और विपक्ष की मिलीभगत से उत्पन्न हमारे जन साधारण के जीवन की व्यथा हम लोगों के लिए कोई अननुभूत सचाई नहीं है। इसी कटु सत्य की ओर इंगित करते हुए धूमिल लिखता है—

> क्योंकि गलत होने की जड़
> न घड़ीसाज की दुकान में है,
> न बढ़ई के बसूले में
> और न आरी में है
> बल्कि वह एक समझदारी में है
> कि वित्तमंत्री की ऐनक का
> कौनसा शीशा कितना मोटा है,
> और विपक्ष की बेंच पर बैठे हुए
> नेता के भाइयों के नाम
> सस्ते गल्ले की कितनी दुकानों का
> कोटा है

(म० 90)

राजनेता के चरित्रहीन होने से देशवासियों के लिए भारी संकट की स्थिति उत्पन्न हुई है। उन्हें किसी भी प्रकार के श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों के प्रति कोई आस्था नहीं रही रही है। गांधीवाद की हत्या ने अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह को हास्यास्पद स्थिति में डाल दिया है। और तो और 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी समझने वालों को भी देश प्रेम की मूल्यहीनता को स्वीकारने पर विवश कर दिया है। भ्रष्ट राजनीति के कारण उत्पन्न हुई गरीबी ने अर्थाभाव ने—बड़े-से बड़े जीवन-मूल्यों को भी निरर्थक करके रख दिया है। यह मूल्य-हीनता का बोध विशेषतः युवा पीढ़ी

में उभरा है क्योंकि अभावग्रस्त जीवन के बोझ के विरुद्ध जितनी मुखर प्रतिक्रिया युवक-युवतियों में होती है, दूसरी अवस्था के लोगों में उतनी नहीं होती। युवकों की उसी तीव्र प्रतिक्रिया का एहसास धूमिल से लिखवाता है—

एकाएक
जग लगे अचरज से बाहर
आ जाता है आदमी का भ्रम और देश प्रेम
बेकारी की फटी हुई जेब से खिसक कर
बीते हुए कल में गिर पड़ता है
मैंने रोजगार दफ्तर से गुजरते हुए—
नौजवान को
यह साफ कहते सुना है—
'इस देश की मिट्टी में
अपने जांगर का सुख तलाशना
अंधी लड़की की आँखों में
उससे सहवास का सुख तलाशना है'

(स० 65)

देश की ऐसी दुर्दशा केवल राजनेताओं की चरित्रहीनता के कारण हुयी है, इसमें धूमिल का अटल विश्वास है। स्वयं के लिए अपरिमित सुविधाएँ जुटाने बटोरने वाले नेता युवकों के लिए जीवन मरण के सवाल—(रोजी-रोटी-को जुटाने के प्रश्न) पर कितने बेफिक्र हैं। इसके लिए वह कागजी घोड़े नचाते जाते हैं। पंचवर्षीय योजनाओं के बिचूले खड़े कर जाते हैं और युवकों के लिए रोजगार दफ्तर खोलकर से मुक्त होने की खुशफहमी पालते हैं। वे रोजगार दफ्तर युवकों को नौकरी नहीं आत्महत्या की विवशता देते हैं। धूमिल के शब्दों में —

युवकों को आत्महत्या के लिए रोजगार-दफ्तर भेजकर
पंचवर्षीय योजनाओं की सख्त चट्टान को
कागज से काट रहा हूँ।

(स० 26)

राजनेताओं की चरित्रहीनता, सुविधालोलुपता और भ्रष्टाचार की वृत्ति इस सीमा तक बढ़ी हुई धूमिल को दिखाई देती है कि वह उनकी निलज्जता का पर्दाफाश करने के लिए सहज रूप से लिख जाता है—

नेकर के नीचे का सारा नंगापन
कालर के ऊपर उग आया है

चेहरे बड़े घिनौने लगते,
पर इससे क्या फर्क गया
मगर बड़ी छायाओं वाले बौने लगते

घूमिल की सामान्य राजनीतिक सूझबूझ की सीमा केवल देश तक ही बँधी नहीं थी। वह एक अतिशय जागरूक और चौकसी रखने वाला बुद्धिवादी था। स्पष्ट है उसे देश के बाहर की राजनीति की समझ का होना स्वाभाविक था। केवल दो उद्धरणों से उक्त बात को मैं पुष्ट करना चाहूँगा। चीन से हुवे युद्ध के बाद भारत और चीन के सीमा विवाद में 'मैकमोहन रेखा' को अचानक महत्त्व प्राप्त हुवा। अंगरेजों के शासनकाल में निर्धारित उपर्युक्त सीमा-रेखा को भारत और चीन की सीमा-रेखा के रूप में स्वीकारने के लिए दोनों देशों पर अन्तर्राष्ट्रीय दबाव पड़ने लगा। उक्त मैकमोहन रेखा को सीमा रेखा के रूप में चीन से स्वीकार करवाने में हम देशवासी ही नहीं बल्कि हमारी हित चिन्तक शक्तियाँ भी विफल हो गयीं। इसकी वजह यह थी कि मैकमोहन रेखा एक ऐसे देश की सीमा पर पड़ी थी जिसका जिस्म ठण्डा पड़ चुका था। जिसका लहू गर्म नहीं रहा था। जिसने अपना जीवित होने का लक्षण खो दिया था। जिसके निवासी और राजनेता दुनिया के अमन के फरिश्तों को खुश करने में लगे थे। इसी ऐतिहासिक स्थिति को शब्दों में बाँधते हुवे धूमिल ने लिखा था—

"गिद्धों की आँखों के खूनी कोलाहल और ठंडे लोगों की
आत्मीयता से बचकर
मैकमोहन रेखा एक मुर्दे की बगल में सो रही है
और मैं दुनिया के शान्तिदूतों और जूतों को
परम्परा की पालिश से चमका रहा हूँ।"

(सं० 27)

घूमिल की रचनाओं में जिन दिनों का राजनीतिक बोध आता रहा वह समय केवल हमारे देश के लिए ही असाधारण था यह बात नहीं बल्कि समूचे संसार के लिए उक्त समय विशिष्ट था। इससे पहले मैंने दो खेमों में बटी दुनिया के भीतर चलने वाले शीत-युद्ध की बात की है। उसी के संदर्भ का सूत्र थाम कहा जा सकता है कि उक्त युग में अमरीका और रूस एक दूसरे पर घात लगाए बैठने की मुद्रा में थे। नये नये विघातक अस्त्रों का विकास दोनों खेमों के नेतृत्व करने वाले रूसी और अमरीकी युद्ध-विषयक शोधशालाओं में हो रहा था। पुराने पड़ने वाले और सद्य आविष्कृत अस्त्रों की संहार क्षमता के अन्तर को परखने के लिए उनके परीक्षण आवश्यक थे। ऐसे परीक्षणों के लिए एशिया और अफ्रीका के अनेक राष्ट्रों को युद्ध उपजाने वाली

भूमि बड़ी ही अच्छी सिद्ध हुई। उस भूमि पर संघर्ष छेड़ने में पहल अमरीका की ओर से होती रही और संघर्ष को बनाये रखने का दायित्व रूस का रहा। धूमिल अभावग्रस्तों का वाम पक्षीय नेता था अत: स्वाभाविक था कि उक्त संघर्ष में उसे अमरीका की चालबाजी अधिक दिखायी देती। इसी से सम्बन्धित उसकी निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> मैं देख रहा हूँ एशिया में दायें हाथों की मक्कारी ने
> विस्फोटक सुरंगें बिछा दी हैं।
> उत्तर दक्षिण पूर्व पश्चिम कोरिया, वियतनाम
> पाकिस्तान इजरायल और कई नाम
> उनके चारों कोनों पर धब्बे चमक रहे हैं।"

(सं० 27)

वस्तुत: उक्त सभी देशों में हुवे खूनी संघर्ष में दायाँ खेमा या बाँया खेमा दोषी था इस बात का निश्चय इतिहास-लेखक भी नहीं कर सकते। क्योंकि इतिहास-लेखक भी तो दाएँ और बाएँ के खेमों में बटे हुवे हैं। इस स्थिति में एक कवि को किसी एक पक्ष को मक्कार समझकर चलना उसके विपक्ष के साथ प्रतिबद्ध होने का प्रमाण ही कहा जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उक्त देशों में चले लम्बे युद्धों में अमरीकी जन-धन की अपरिमित हानि हुई क्योंकि उसी के पास विपुल मात्रा में युद्ध की सामग्री भी थी परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि बायाँ पक्ष बिल्कुल ही बेकसूर और दूध का धुला था। जो भी हो कम से कम इतनी तो व्यावहारिक सचाई को कवि ध्यान में रखता कि ताली एक हाथ से नहीं बजती तो संभव था विस्फोटक सुरंगों को बिछाने के लिए दायें हाथों का ही वह दोषी न मानता। धूमिल की बाएँ पक्ष के प्रति झुकाव की वृत्ति उक्त उद्धरण से स्पष्ट झलकती है। यह बात ठीक है या गलत है इसका विचार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। कारण यह है कि कवि का बायीं ओर का झुकाव सैद्धान्तिक मोह की अपेक्षा व्यावहारिक सच्चाई पर अधिक निर्भर करने वाला था। वैसे उसकी वर्ग चेतना को स्पष्ट करने के प्रसंग में इस पर और कुछ अधिक लिखना चाहूँगा। यहाँ सिर्फ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उसकी दृष्टि में बाएँ अर्थात् प्रगतिवादी-साम्यवादी रहना सीखने के लिए किसी किताबी अध्ययन की अनिवार्यता नहीं थी। यह शिक्षा तो हमारे रोजमर्रा के जीवन से भी मिल सकती थी। उसी के शब्द हैं—

> नगरपालिका ने मुझे
> बायें रहना सिखलाया है

(सफल जीवन के लिए
कारनेगी की किताब की नहीं,
सड़क के यातायात चिह्नों की
समझने की, जरूरत है)

(स० 80)

थाए रहने की व्यावहारिकता और उपयुक्तता और अनिवार्यता को सड़क-चिह्नों से अधिक प्रभावी ढंग से और किसी माध्यम से सीखा नहीं जा सकता। उस शिक्षा की क्षणभर की उपेक्षा भी जानलेवा भूल सिद्ध हो सकती है। यह बात पुस्तकों से मिलने वाली शिक्षा में नहीं होती। वहाँ तो आप अच्छी शिक्षा देने वाली पुस्तकें पढ़ लो, चाहो तो उनसे कुछ स्वयं सीख लो, चाहो तो न सीखो, चाहो तो औरों को सिखा दो और चाहो तो न सिखाओ। इतना ही नहीं बल्कि बहुत कुछ सीख कर भी पुस्तकों की शिक्षा की उपेक्षा सहज ही की जा सकती है। इससे किसी को जीने के लिए संकट का सामना करना नहीं पड़ता, यह उपेक्षा किसी को मौत का साक्षात्कार नहीं करा सकती। मैंने जब-जब इस किताबी सीख के खोखलेपन पर सोचा है तब तब पाया है कि आज का हमारा बुद्धिजीवी वर्ग उस शिक्षा की उपेक्षा ही नहीं करता बल्कि उसके साथ व्यभिचार भी करता है। यही व्यभिचार आज के जनजीवन के मूल्यगत ह्रास का मूलभूत कारण है। केवल राजनीतिक दर्शन की ही बात नहीं यहाँ का बुद्धिजीवी वर्ग सामाजिक कल्याण की, धार्मिक उदारता की और मानवतावादी उदात्तता की जो किताबी शिक्षा लेता है उस शिक्षा को अपने आचरण का किस सीमा तक आधार बनाता है? यह प्रश्न यदि सोचा नहीं जाए तो ही ठीक है।

इस पृष्ठ तक पहुँचते-पहुँचते धूमिल की कविता से उजागर होने होने वाली राजनीतिक समझ का जो रूप हमें दिखाई देता है वह अनास्थामय-सा ही लगता है। उसकी अव्यवस्था में अनास्था तो सन्देह से परे है परन्तु यह भी स्वीकारना होगा कि धूमिल में कुछ राजनेताओं के प्रति आदर की भावना की भी कमी नहीं है। इसी आदर की भावना से प्रभावित-प्रेरित होकर धूमिल ने कुछ रचनाएँ अवश्य की हैं। इस प्रकार की रचनाओं को बहुत ही संक्षेप में सोचने की विवशता को सामने रख कर कह सकते हैं कि राजनेताओं और उनके कुछ सत्कार्यों के प्रति धूमिल की आदर और आस्था का रूप कुछ इस तरह है—

धूमिल ने समकालीन राजनेताओं की प्रशस्तियाँ नहीं लिखी हैं। मूलत राष्ट्र के तथाकथित कर्णधारों के प्रति उसके मन में कोई बहुत बड़ा आदरभाव था यह नहीं लगता। उसकी पंक्तियाँ—

(मैंने राष्ट्र के कर्णधारों को
सड़कों पर
किश्तियों की खोज में—
भटकते देखा है)

(कल० 29)

राजनेताओं पर व्यंग्य करने वाली हैं। परन्तु उसकी कविताओं में वास्तविक रूप में श्रेष्ठ राजनेताओं के प्रति उसका आदरभाव छिप नहीं सका है। जिन दो-एक नेताओं के प्रति अपनी भावनाओं को उसने स्पष्टतः कह डाला है उनमें स्व० लालबहादुर शास्त्री और स्व० पंडित जवाहरलाल नेहरू के नाम गिनाए जा सकते हैं। उनमें भी पं० नेहरू पर एक स्वतंत्र कविता है और कुछ कविताओं में संकेत मिलते हैं। स्व० लालबहादुर शास्त्री पर भी एक छोटा-सा परन्तु बहुत मार्मिक शब्दों में प्रसंग मिलता है। केवल एक ही व्यक्ति पर लिखी धूमिल की और भी दो-तीन कविताएँ हैं। जैसे—'राजकमल चौधरी के लिए', 'भा वैरागी—पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी', और 'आतिश के अनार-सी वह लड़की।' इनमें से पहली दो कविताएँ साहित्यिकों पर और तीसरी कविता एक बहादुर तथा देश के लिए आत्माहुति देने वाली युवती पर लिखी है। उनकी चर्चा किसी समुचित संदर्भ में होगी। यहाँ, धूमिल के राजनीतिक बोध के विवेचन के प्रसंग में, कुछ महान राजनेताओं के प्रति सश्रद्ध होकर लिखी उसकी कविताओं का विचार अधिक आवश्यक है।

स्व० लालबहादुर शास्त्री के लिए धूमिल के अन्तःकरण में जो बहुत ही आदर की भावना थी उसे 'पटकथा' में प्रसंग में प्रकट होने का अवसर मिला है। वस्तुतः स्व० शास्त्रीजी का प्रधानमंत्री बनना जितनी सामयिक महत्त्व की बात थी उससे अधिक 'ट्रेजेडी" (त्रासदी) उनकी असामयिक मृत्यु थी। उनके सत्ताकाल में हमारे देश की पाकिस्तान से हुई लड़ाई में हुई हमारी विजय समूचे राष्ट्र का मनोबल ऊँचा करने वाली थी। शास्त्रीजी की मृत्यु केवल आकस्मिक ही नहीं बल्कि विस्मयजनक घटना थी। एक ऐसी अप्रत्याशित, अकल्पित और अवांछित घटना जिसने केवल देश ही नहीं विदेशों को भी शोक संतप्त कर डाला था। शास्त्रीजी की मृत्यु के बाद उनका शव ताशकंद से दिल्ली लाया गया था। शव के साथ तत्कालीन रूसी प्रधानमंत्री कासीगिन भी आए थे। हवाई जहाज से शव को उतार लेने के बाद उसे देखकर शास्त्रीजी की वृद्धा माँ ने कासीगिन की बाँह पकड़कर पूछा था—'कहाँ है मेरा लाल ?' और इस प्रश्न की भाषा को न समझते हुए भी मानवी अन्तःकरण की अन्तर्राष्ट्रीय एकता वाली भावों की भाषा को समझने वाला रूसी प्रधानमंत्री उक्त प्रश्न को समझकर एक अनिर्वचनीय अपराधी भाव जन्य व्यथा में डूबकर

मौन रह गया था। क्या उक्त मर्मस्पर्शी प्रसंग पर उसके और शास्त्रीजी की माताजी के अन्तःकरण में हुये भावात्मक कोलाहल और हाहाकार को शब्दबद्ध करने की क्षमता संसार की किसी भी भाषा में हो सकती है? कम-से-कम मुझे तो उस समय शक था और आज भी है। धूमिल भावना की अपेक्षा विचारों का कवि था। उसने उक्त प्रसंग को भी कुछ ऐसे आविर्भाव में अभिव्यक्ति दी कि जिसे पढ़कर भाव विह्वल होने की अपेक्षा मात्र विचलित होने की अनुभूति होती है। उसने लिखा —

"मगर उसके तुरन्त बाद
मुझे झेलनी पड़ी थी—सबसे बड़ी ट्रेजेडी
अपने इतिहास की
जब दुनिया के स्याह और सफेद चेहरों ने
विस्मय से देखा कि ताशकन्द में
समझौते की सफेद चादर के नीचे
एक शान्ति-यात्री की लाश थी"

(स० 117–118)

स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व से भी धूमिल बहुत दूर तक प्रभावित लगता है। इसे एक विडम्बना ही समझनी चाहिए कि जिसके शासनकाल की सफलताओं का वह कटुतम आलोचक रहा उसी की प्रशंसा में उसने एक लम्बी कविता लिख डाली। परन्तु वह कविता पं० नेहरू के स्वर्गवास के बाद लिखी गयी। हमारा भारतीय जनमानस किसी की मृत्यु के उपरान्त उसके प्रति अनुदार होने के पक्ष में कभी नहीं रहा है। इसी कारण यदि कवि किसी युग-विशेष की विफलताओं पर कठोर प्रहार करता रहे परन्तु उसी युग का नेतृत्व करने वाली हस्ती के मिट जाने पर शोक प्रकट करे तो अस्वाभाविक कुछ भी नहीं लगता। युग, युगनेतृत्व और युगीन उपलब्धियों में अन्योन्याश्रित सम्बन्धों को स्वीकार कर भी यह कहना पड़ता है कि आज तक हर युग का नेता अपने आदर्श का समाज निर्माण करने में विफल रहा है। जितना आदर्श बड़ा उतनी असफलता भी बड़ी रही है। महाभारत साक्षी है कि सर्वसंहारक भीषण युद्ध को टालने का श्रीकृष्ण का हर प्रयास बेकार हो गया तो दुनिया के इतिहास में न भूतो न भविष्यति घटना के रूप में, उसने पांडवों का युद्ध में साथ देने के लिए स्वयं निःशस्त्र रहने का प्रण कर लिया। निहत्था रहकर युद्ध के मोर्चे पर युद्धरत किसी एक पक्ष का साथ देने का मतलब ही था—युद्ध के विरुद्ध होने की अपनी भूमिका को अन्त तक निभाने का प्रमाण देना। कृष्ण की उक्त युद्ध टालने में विफलता, उसका अकेले का दोष नहीं कहला सकती।

हर युगनेता के बारे म यही कहा कहा जा सकता है। कोई युगनेता अपने समय के समाज के सभी वर्गों से जब तक सहयोग प्राप्त नही कर सकता तब तक वह अपने आदर्श के अनुकूल समाज की रचना म कभी सफल नही हो पाता। नेहरूयुग' इसका अपवाद नही था। स्व० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व म लोगो की गहन आस्था थी। उसी आस्था को रेखाकित करने वाले धूमिल के शब्द हैं—

मतदान होते रहे
मैं अपनी सम्मोहित बुद्धि के नीचे
उसी लोकनायक को
बार बार चुनता रहा
जिसके पास हर शका और
हर सवाल का
एक ही जवाब था
यानी कि कोट के बटन होल मे
महकता हुआ एक फूल
गुलाब का।

(स॰ 111)

इस जादुई प्रभाई का कारण था उस युग-नेता का उदात्त चिन्तन और उस चिन्तन म यहाँ की जनता का विश्वास। जैसे कि धूमिल आगे लिखता है—

वह हम विश्वशान्ति और पचशील के सूत्र
समझता रहा। मैं खुद को
समझाता रहा— 'जो मैं चाहता हूँ—
वही होगा। होगा—आज नही तो कल
मगर सब कुछ सही होगा।'

(स॰ 111)

कवि का युगनेता म उक्त विश्वास सोद्देश्य था। उद्देश्य यही कि जो गलत हो रहा है वह ठीक होता देखा जा सके, चाहे इसके लिए कुछ विलम्ब ही क्या न लगे। अर्थात् हमारा देश खुद सही रास्ते पर चलता हुआ ससार के राष्ट्रों का मार्गदर्शक हो सकेगा तो केवल प० नेहरूजी के नेतृत्व मे ही, इसी विश्वास से इस देश का जनमानस उद्वेलित हो गया था। इस चमत्कारी नेतृत्व का सारा चमत्कार 1962 के चीनी आक्रमण की ऐतिहासिक दुर्घटना मे समाप्त हो गया। पचशील के उद्घोषक पडौसी चीन ने ही इस देश के साथ विश्वासघात किया। उसके लिए यहाँ की जनता ने युगपुरुष जवाहरलाल को असहाय अवश्य माना परन्तु दोषी ठहराया नहीं। समूची मानवजाति के कल्याण की, विश्वबन्धुत्व की, सहअस्तित्व

की और धर्मनिरपेक्ष पारस्परिक मधुर सम्बन्धों की उदात्त कामना करने वाला पुरुष आततायियों के आक्रमण के लिए दोषी भी कैसे ठहराया जा सकता था ? आक्रामकों के प्रति यहाँ की जनता मे असीम क्रोध की और प्रतिशोध की भावना अवश्य बढ़ी परन्तु स्व० जवाहरलाल के प्रति निरादर उत्पन्न होने का कोई कारण भी नही था। सभवत इसी तर्क को सामने रखकर उक्त महापुरुष के प्रति कोई व्यक्ति किसी भी प्रकार की दुर्भावना से पीडित न हुआ। जब स्व० जवाहरलालजी का देहान्त हुआ तो धूमिल ने एक कविता लिखी—'जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु पर' पहले ही बद मे उसने लिखा—

—दिन
जो सुबह सुबह शुरू हुआ
दोपहर मे। खत्म हो गया
मेरा सूरज खो गया

(कल० 7)

और फिर आगे चलकर जवाहरलालजी को 'माती की आभा' कहने वाला धूमिल इस कविता मे बडी भावुकता की मुद्रा मे दिखायी देता है। महाकाल की जीत हुई और उसने जवाहरलाल को छीन लिया तो सारे गुलाब मुर्झा गये, दिशाएँ चीत्कार कर उठी, मनुष्यों के मुख विवर्ण हो गये, पाक बच्चो से खाली हो गये और ऐसी मुर्दनी छाया हालत मे यहाँ के एक-एक मनुष्य का मन चाहने लगा कि—

कोई आए और और
इतना कहे
—अरे सत्य यह नही, महज
अफवाह है।
अभी-अभी तो हम
विकास के अभियानो मे जुडे हुए
आगे बढे, किन्तु फूलो से चमन हमारा भरा नहीं है
रुको हवाओ
समाचार के पीछे, मत हमको दौडाओ
अभी हमारा वीर जवाहर मरा नही है।"

(कल० 9)

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि धूमिल की समसामयिक राजनीति की उसे बड़ी अच्छी पहचान थी। देश की दु स्थिति के प्रति चिन्ता और राजनेताओ-प्रशासको के भ्रष्ट आचरण के प्रति विक्षोभ उसमे कूटकूटकर भरा था। इसी कारण

उसकी रचनाओं में प्रकट हुवा आक्रोश विद्रोह की सीमा का स्पर्श करने वाला दिखायी देता है। इस आक्रोश में भावात्मक तल्खी है और स्वर में व्यंग्य। कोई बात धूमिल ने बहुत सीधे ढंग से कही हो यह असम्भव है। उसकी कविता में सपाट बयानी के कई उद्धरण विद्वान देते रहते हैं। सपाट बयानी का मतलब नहीं। जो कहा गया है वही मूलत व्यंग्यात्मक और कभी-कभी उपहासात्मक भी कहा गया है तो उसमें सीधापन कहाँ। जो भी हो, अन्तत यही कहना चाहूँगा कि स्व धूमिल की राजनेता और राजनीति की ओर देखने की दृष्टि दोषान्वेषिणी भी सदोष नहीं थी। यदि राजनीति के दोषों का वर्णन कविताओं में किया गया है तो उसके लिए कवि का दृष्टि-दोष कारण नहीं बल्कि राजनीति का दोष मूलभूत कारण है। यदि पूर्वग्रह दूषित दृष्टि होती उसके पास तो स्व० नेहरू और स्व० लालबहादुर शास्त्री के प्रति उसके अन्त करण में प्रशंसा करने और उनके व्यक्तित्वों की महानता को आँकने का आदर-भाव न दिखायी देता।

पंचम अध्याय

मेरे देश की संसद मौन है

स्व० धूमिल की अपने समकालीन शासन और शासकों के प्रति सामान्य धारणाओं को पिछले अध्याय में स्पष्ट किया गया। इसमें मैं कुछ ऐसे कारणों की चर्चा करना आवश्यक समझता हूँ जिन्होंने धूमिल की धारणाओं को तल्ख और व्यंग्यात्मक रूप दिया। मेरे मन में स्वाधीनता के बाद के बीस वर्षों के स्वशासनकाल की असफलताएँ ही धूमिल को वैसे सोचने पर विवश कर गयी। राजनेताओं की चरित्र-हीनता और शासन का भ्रष्ट रूप यहाँ के जनसाधारण के जीवन में कई तरह की समस्याएँ उत्पन्न करते गये। वैसे आजादी के बाद हमारा देश हर मोर्चे पर विफल रहा यह कहना भी गलत होगा। कृषि–प्रधान देश में उद्योगों की नींव पड़ी। इससे हुई प्रगति का लाभ जनसाधारण के लिए तो ऊँट के मुंह में जीरा साबित हुआ। यहाँ तकनीकी शिक्षा का प्रचार हुआ परन्तु तकनीक में प्रशिक्षित और दक्षता प्राप्त बुद्धि-जीवी अपने दरिद्र देश की सेवा करने की अपेक्षा विकसित पाश्चात्य देशों के औद्योगिक क्षेत्र की प्रशिक्षित मजदूरों की कमी को पूरा करने के लिए उधर दौड़ पड़े। आजादी के बीस साल बाद तक तो कई ऊँची-ऊँची इमारतें बनी, विलासिता की की सामग्री तैयार होती रही परन्तु उसी के साथ-साथ बेघरों की संख्या में भी वृद्धि होती रही और जीवनावश्यक वस्तुओं के उत्पादन में कमी होती रही। यह विषम स्थिति एक चिन्तनशील व्यक्ति के सामने कई समस्याओं को रखने वाली सिद्ध हुई। ऐसी ही कुछ समस्याओं का चित्रण स्व० धूमिल ने अपनी कविताओं में किया है।

स्व० धूमिल की कविताओं में चित्रित हुई समस्याओं को दो वर्गों में रखा जा सकता है। कुछ समस्याएँ ऐसी हैं जिनके उपजने से न शासन का कोई सम्बन्ध है और न ही जिनका समाधान शासन के हाथ में है। दूसरे वर्ग की समस्याएँ अवश्य ऐसी हैं जिनकी उपज ही शासन से हुई है और जिन्हें दूर करने की जिम्मेदारी भी उसी पर है। वस्तुतः आज के युग में शासन हमारे जीवन के प्रायः सभी अंगों को प्रभावित करता है। शासन से उत्पन्न स्थिति में जीते हुवे अनुभव करने लगते हैं कि

हमारी हर सुविधा असुविधा का दायित्व हमारी सरकार पर है—राजनीति पर है—राजनेताओं पर है। जनतन्त्र-प्रणाली वाले शासन में हमारे हर सुख दुःख की जिम्मेदारी हम मतलोगत्वा चुने गये लोक प्रतिनिधियों से बनी संसद पर समझते हैं और इसमें हमसे कोई गलती भी नहीं होती। धूमिल ने भी संसद से कुछ ऐसे प्रश्न किये हैं जिनका सीधा सम्बन्ध साधारण लोगों की सबसे विकराल समस्याओं से था। न्याय की समस्या भाषा भेद और तोड़ फोड़ वाले हिंसक प्रदर्शनों की समस्या और जिसे सर्वोपरि कहा जा सकता है वह भूख की समस्या धूमिल की चिन्ता के विषय रहे हैं। वस्तुत प्रश्नों में वह ऐसी समस्याएँ उभारता है। उसके अनेक प्रश्न लाजवाब होते हैं। प्रश्न वह स्वयं से भी करता है और स्वयं भी उसे उत्तर न दे सकने की स्थिति में मौन रहता है। अपनी असमर्थता अक्षमता को खुले रूप में स्वीकार करता है।

अपने प्रश्नों में स्व० धूमिल ने जिन महत्वपूर्ण समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है उनमें रोटी की समस्या एक मात्र ऐसी समस्या है जिस पर अपने देश की संसद निरुत्तर है। अपनी कई कविताओं में उसने संसद से और जनतन्त्र से अनेक प्रश्नों के जवाब चाहे हैं। हर बार उसे कोई उत्तर नहीं मिला है परन्तु रोटी की समस्या पर साधा गया संसद का मौन अपने में बहुत ही विशिष्ट है अपने राजनीतिक बोध का मुखर प्रतिनिधित्व करने वाली कविता के रूप में धूमिल पटकथा का निर्देश करता रहा परन्तु उसके मरणोपरान्त छपे उसी की कविताओं के संकलन की एक छोटी-सी कविता रोटी और संसद मुझे झकझोर गयी। धूमिल के समूचे काव्य का चिन्तन बीज-रूप में इस कविता में विद्यमान लगता है। कविता छोटी है अत उसे पूरी-पूरी उद्धृत करना अनुचित न होगा।

रोटी और संसद
एक आदमी
रोटी बेलता है
एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है न रोटी खाता है
वह सिर्फ रोटी से खेलता है
मैं पूछता हूँ—
'यह तीसरा आदमी कौन है ?'
मेरे देश की संसद मौन है।

(कल 33)

आजादी के बाद हमारी आर्थिक क्षेत्र की प्रगति होने की बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता परन्तु उस प्रगति से मिलने वाले लाभ समाजवाद का

झंडा उठाकर चलने वाली इस देश की संसद, साधारण मनुष्य तक नही पहुंचा पाया। यदि कोई तर्क-प्रधान मस्तिष्क संसद से पूछता कि स्वाधीनता के बीस वर्ष बीतने तक इस देश मे बना महीन कपडा, विलासिता की वस्तुएं जनसाधारण तक क्यो नही पहुचीं ? संभव है एकाध संसद-सदस्य तत्व शब्दो मे इस प्रश्न का उत्तर प्रति प्रश्न से देता—'क्या महीन कपडा, कारें और विलासिता की सामग्री खाने की चीजें हैं ?' और प्रश्नकर्त्ता को मौन रह जाना पड़ता। परन्तु यहाँ तो कवि ने मूलभूत समस्या को ही छुआ है—भूख की समस्या को। मनुष्य की तीन सर्वोपरि आवश्यकताओं—रोटी, कपडा और मकान— में पहली आवश्यकता तो अनिवार्यता होती है। इसका अभाव मानव के जीवन मे असह्य और अकल्पनीय दुख उत्पन्न कर देता है। धूमिल ने अपनी समग्र कविताओ मे इसी रोटी की समस्या को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। भूख का वर्णन कई कविताओ मे और सन्दर्भों मे मिलता है। उसके भूख विषयक सभी विचारो तर्कों का एक ही आधार है—

आज मैं तुम्हे वह सत्य बतलाता हूँ
जिसके आगे हर सच्चाई
छोटी है। इस दुनिया मे
भूखे आदमी का सबसे बडा तर्क
रोटी है

(स० 124-125)

कवि का यह सच्चाई-बोध किसी सुनी-सुनायी भूख से पीड़ितो की व्यथा कथाओं की उपज नही है बल्कि भुक्तभोगी का यथार्थ है। उसने प्राय अपने ही अन्त साक्ष्य के रूप मे लिखा है—

बच्चे भूखे हैं
माँ के चेहरे पत्थर,
पिता जैसे काठ, अपनी ही आग मे
जले हैं ज्यो सारा घर

(कल 68)

जहाँ बच्चे भूखे रहते हो उस परिवार के बडे लोगो की भूख की व्यथा का अनुभव शब्दातीत ही कहा जायगा। इस भूख की व्यथा की आग तब और अधिक तीव्र हो जाती है जब यह समझ मे आ जाता है कि गधे गुलगुले खा रहे हैं। लुच्चे-लफंगे मजे मे जी रहे हैं। कवि के ही शब्दो मे—

और जो चरित्रहीन है
उसकी रसोई मे पकने वाला चावल
कितना महीन है।

(स० 90)

यह भूख की समस्या इसलिए विकराल नहीं कि उससे मनुष्य तो मनुष्य कुत्ते जैसे वहशी जीव को भी लाचार बना डालती है, पालतू बनकर सभी–कुछ सहने पर मजबूर कर देती है। बेशर्म और बेह्या होकर जीने पर विवश कर देती है। रोटी देने वालों के प्रति ईमान के नाम पर व्यवहार में प्यार, लचक और लोच भरने पर मजबूर कर देती है। अत: कवि सचेत करना चाहता है —

मगर मत भूलो कि इन सबसे बड़ी चीज
वह बेशर्मी है
जो अन्त में
युद्ध भी उसी रास्ते पर लाती है
जहाँ भूख—
उस वहशी को
पालतू बनाती है (स० 78)

ऐसी चेतावनी के बावजूद धूमिल को अपने समय की भूख की समस्या का सर्वग्रासी स्वरूप याद आता है तो उसे हताश होकर यह भी कहना पड़ता है कि—

सचमुच मजबूरी है
मगर जिन्दा रहने के लिए
पालतू होना जरूरी है (स० 62)

आखिर इस भूख की समस्या का उद्भव-उद्गम-स्रोत कहाँ है? और इसे पनपने बढ़ने में कौन सहायता पहुँचाता है? इन प्रश्नों का दो टूक शब्दों में धूमिल उत्तर देता है। भूख की समस्या वस्तुत: व्यवस्था की समस्या होती है। अन्तत: भूख की समस्या की जड़ गलत राजनीति में खोजी जा सकती है। परन्तु राजनयिक इसे स्वीकारते नहीं। वे तो इस समस्या का सारा दोष बढ़ती आबादी अर्थात् प्रकारान्तर से जनता के मत्थे मढ़ कर स्वयं निर्दोष छूटना चाहते हैं। कवि ने जब एक जिम्मेदार आदमी से 'पूछा कि भूख कौन उपजाता है?' तो—

उस चालाक आदमी ने मेरी बात का उत्तर
नहीं दिया।
उसने गलियों और सड़कों और घरों में
बाढ़ की तरह फैले हुए बच्चों की ओर इशारा किया
और हँसने लगा। (स० 17)

बेशक उस चालाक आदमी के संकेतात्मक उत्तर में निरा झूठ निहित नहीं था परन्तु बाढ़ की तरह फैली हुई बच्चों की संख्या के लिए कौन जिम्मेदार था? जनता का (जन साधारण का) अज्ञान ही इसके लिए कारणीभूत था। लोकशिक्षा

का अभाव इस देश के लिए अभिशाप सिद्ध हुवा है इस बात का प्रमाण 1977 के आम चुनावों में जबरन नसबंदी विरोधी प्रचार को भी जीतने का एक सशक्त आधार बनाने से मिला। दुनिया के जनतांत्रिक इतिहास की इसे एकमेवाद्वितीय घटना कहनी चाहिए। वस्तुत बढ़ती जनसंख्या की समस्या व्यापक अज्ञान की सानुपातिक रही है। धूमिल ने इसकी वास्तविकता को स्वीकारा था। उसने भूख और जनसंख्या की अनापशनाप वृद्धि मे पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकारा था। दोनों को लोकतन्त्र के लिए विघातक माना था। उसने अनाज, जनसंख्या मे वृद्धि और प्रजातंत्र के पारस्परिक सम्बन्धो को स्थापित करते हुवा लिखा है –

प्रजातन्त्र के विरुद्ध
पेट मे धँसे छुरे के साथ भागती है अल्लारखी
सस्ते गल्ले की दुकान की बाहरी
दीवार से टकराती है। उसकी खून भरी मुठ्ठी मे भिचा हुआ
राशन कार्ड, हरित क्रान्ति के विरुद्ध,
उसकी टागो मे आफत है

मौत के सिरे पर एक जिंदगी
शुरू हो रही है। ए भाई रमजान ! ए राम नाथ !!
पेट से छुरा निकालने के पहले
उसकी टागो मे फटती हुई आफत को
निकालो।

और उस आततायी की तलाश करो, हाय हाय
इस बच्चे के पिता इस औरत के पति की तलाश करो।
यहीं कहीं
हाँ-हाँ यहीं कहीं होगा
किसी बेहूदे मुहावरे की आड मे
खुदकुशी की रस्सी लटकाता हुआ,
पेट से लडते-लडते जिसका हाथ अपने प्रजातंत्र पर उठ गया है।
(कल 19)

उक्त कविता को उसके संपूर्ण रूप मे मैंने उद्धृत किया है। भूख, जनसंख्या और लोकतंत्र की सफलता-विफलता की परस्पर सापेक्षता की इतनी सच्ची पहचान (समझ) और कहीं शायद ही मिले। भूख से लडते-लडते आबादी मे वृद्धि होती है। आबादी के बढने से लोकतंत्र की उपलब्धियाँ मिट्टी मे मिल जाती हैं। लोकतंत्र की विफलता पुन भूख को बढाने वाली सिद्ध होती है और फिर भूख से लडते-लडते यह दुष्टचक्र निरन्तर चलता रहे तो दुनिया का कोई भी गणतन्त्र सफल हो नहीं

सकता। इस दुष्टचक्र को बलात् रोकने का प्रयास आबादी के बढ़ने पर बल प्रयोग से अंकुश लगाने का प्रयास आपात स्थिति में हुवा तो परिणाम सत्तान्तर के रूप में सामने आया। बदली हुई सत्ता को 'परिवार नियोजन' को 'परिवार-कल्याण' में बदलना पड़ा और पुनः उक्त दुष्टचक्र अबाध गति से घूमता हुवा दिखायी दिया। आबादी के बढ़ने की समस्या को मैंने लोक-अशिक्षा से सम्बद्ध माना है। इसे आज की लोकहितकारिणी सरकार ने पहचान कर 'प्रौढ़-शिक्षा-अभियान' को हाथ में लिया है इस बारे में अगले किसी उचित प्रसंग पर लिखूँगा।

उपयुक्त कविता की अल्लाहरखी हर किसी प्रभावग्रस्त परिवार की उर्वरा कोख वाली महिला का प्रतिनिधित्व करने वाली है। मेरा एक मित्र उक्त नाम के बारे में पूछ बैठा था कि उसके स्थान पर कालम्मा क्यों नहीं ? क्यम्नी क्यों नहीं ? उसका तर्क था—उक्त जनतंत्र के विरुद्ध हाथ उठाने का जघन्य काम सबसे अधिक और सबसे पहले अल्लारखी का पति और उसकी सन्तान करते हैं। स्पष्ट है उसकी इस आशंका में साम्प्रदायिकता की तर्क-दुष्टता थी। उसकी उक्त आशंका का एक तात्कालिक कारण था। राजस्थान के एक सुलझे हुवे कहानीकार आलम शाह खान की एक कहानी — किराये की कोख पर उन दोनों 'सारिका' में श्री कमलेश्वर के सपादकत्व में एक वेहूद अवाछित चर्चा छिड़ गयी थी। कहानीकार ने अपनी कहानी के चरित्र हिन्दू जाति से चुने थे और कहानी में अति यथार्थ भर दिया था। वैसे भी चाहे हिन्दू हो या मुसलमान ईसाई हो या जैन, बौद्ध हो या पारसी, सभी सांप्रदायिक मस्तिष्क नैतिकता के ह्रास के यथार्थ चित्रण से ठीक वैसे ही डरते हैं जैसे लाल छाते को अकस्मात् खुलने देख कर बैल डर जाता है। अतः आलम शाह खान पर तथा-कथित कट्टर हिन्दुत्ववादी, किसी अनाम या फिर फर्जी नामधारी ने यह इल्जाम लगाया कि उसने हिन्दू धर्म को बदनाम करने की नीयत से अपनी विवादास्पद कहानी के पात्र हिन्दू रखे हैं। उसी शैली पर यदि धूमिल की कविता की अल्लाहरखी को लेकर विशिष्ट सप्रदाय के लोग अनापशनाप और अनर्गल आरोप लगाए तो ? एक कल्पनातीत अवांछनीय स्थिति उत्पन्न हो सकती है यह स्वीकारते हुए भी कि अल्लारहरखी का समाज अशिक्षा और अज्ञानवश अनजाने ही सही प्रजातंत्र पर हाथ उठाने में हमेशा ही डेढ़ कदम आगे रहा है। बस धूमिल की कविता में सप्रदाय-वाद का लेशमात्र न होने से भूख की व्यथा पेट में घुसे छुरे-सी अगाध वेदना देती है। छुरा चाहे किसी भी सप्रदाय के व्यक्ति के पेट में घुसे, एक-सी ही व्यथा देता है। और इसीलिए इस व्यथा से मुक्त करने के लिए कवि रमजान भाई के साथ-साथ का भी आवाहन करता है।

क्या धूमिल इस भूख की समस्या के मूल तक भी पहुँचने का प्रयास करता दिखायी देता है ? इसका बहुत ही स्पष्ट उत्तर है —हाँ ! उसके विश्वास में भूख को उपजाने और बनाये रखने में मात्र गरीबी का ही बेचारी अकेली का हाथ नहीं।

इसमे तो समूची व्यवस्था का सहेतुक योगदान रहता है। व्यवस्था को चलाने वालो का हाथ होता है क्योकि इसी से उन्हे लाभ मिलता है। भूख को जीवित रखने मे व्यापारियो की और राजनयिको की गहन रुचि होती है। भूखे समाज का शोषण करना व्यापारियो के लिए आसान होता है तो भूख मिटाने के नारो का सब्जबाग दिखा कर जनता के मत बटोरना राजनेताओ के लिए सरल काम होता है। वस्तुत व्यापारी और राजनेताओ की मिलीभगत इस देश की भूखी जनता के लिए अभिशाप बन बैठी है। आज की व्यवस्था मे सीधे-सच्चे की अपेक्षा चलते-पुर्जो की पौ बारह है। धूमिल के शब्दो मे —

चोरो को सुविधा
मिली है और तुम्हे
हकारता हुआ देखता हूँ
यह देश बहुत बडा है
तुम अपनी भूख से इसे
भर नही सकते।
आओ अचरज यहाँ पडा है, उसमे
जहाँ बनिये की आँख बनैले जानवर—
सी जल रही है।

(कल 72)

भूख की समस्या से सत्रस्त लोगो का शोषण इस देश मे केवल बनैले जानवर-सी आखो वाले बनिये ही करते हैं यह एक भ्रम होगा। 'चोरो' को मिली सुविधा के कारण कभी-कभी अतर्क्य और अकल्पनीय स्थिति उत्पन्न हो जाती है। भूख से विवश आदमी का शोषण करने वाला केवल बनिया-वर्ग होता तो भी यहाँ काल मार्क्स का वर्गवादी सघर्ष का सिद्धान्त कुछ तो कारगर होता। परन्तु यहाँ शोषक और शोषित वर्गो मे भेद करने वाली रेखा कभी-कभी ऐसी पतली हो जाती है कि उसका अस्तित्व ही समाप्तप्राय लगने लगता है। वैसे मेरे इस विवेचन का उपयुक्त सदर्भ 'मोचीराम' कविता के साथ ठीक बैठता परन्तु चूँकि भूख की समस्या पर लिख रहा हूँ अपनी एक धारणा को स्पष्ट करने का मोह सवरण नही कर सकता। जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है यहा शासक और शोषित के बीच की विभाजक-रेखा बडी ही क्षीण है। इसलिए साम्यवादी वर्गसघर्षवाद यहाँ चल नही सकता। एक जानामाना उदाहरण देख लीजिए। कुछ वर्षो पहले चासनाला कोयला खान मे एक भीषण दुर्घटना हुई थी। उसमे पानी भर जाने से सैकडो श्रमिक डूब मरे थे परन्तु अहो आश्चर्यम्! जब मृत मजदूरो के परिवार वालो को सहायता दी जाने लगी तो मृत घोषित मजदूरो मे से अधिकाश जीवित थे। दुर्घटनाग्रस्त खान से तो सैकडो

सड़ी–गली लाशें बाहर निकाली गयीं थी परन्तु खान के प्रबन्धकों को मजदूरों की प्रत्यक्ष जीवित उपस्थिति पर विवश होकर यह प्रमाणित करना पड़ा था कि उसने नियमित श्रमिकों की मृत्यु नहीं है जितनी कि लाशें गिनाई गयी हैं। हुवा यह था कि उस खान मे काम करने वाला नियमित मजदूर जितने रुपये प्रतिदिन पाता था, मात्र उसके आधे रुपिये प्रतिदिन की मजदूरी पर वह अपने गाँव से आदमी ले आता था और अपने नाम पर, अपना काम करने के लिए, अपने बदले उसे खान मे भेज देता था। स्वय बिना काम किये सात-आठ रुपये कमा लेता था। यह एक मजदूर द्वारा दूसरे मजदूर के शोषण के सिवा और क्या था ? क्या पहले मजदूर को कालमार्क्स के तथाकथित शोषक वर्ग मे रखा जा सकता है ? शायद हाँ और शायद नहीं भी ! इसका सीधा सच्चा अर्थ केवल यही है कि जिसका पेट भरा है वह शोषक बन बैठता है और जिसका पेट खाली है वह शोषित होने पर मजबूर हो जाता है। यह शोषक और शोषित के बीच की रेखा हमेशा बदलती रहती है। रेखा के इस पार आज यदि कोई सौ लोग हैं तो कल उनकी संख्या एक सौ दस हो जाती है। और रेखा के उस पार आज यदि हजार हैं तो कल दो हजार हो जाते हैं। यही कारण है कि आज की व्यवस्था शोषकों के लिए शोषितों के साथ खुल कर मनमानी करने की असीम सभावनाएँ उत्पन्न करती है क्योंकि इसमे चोरों का ही सुविधा प्राप्त हैं।

भूख से पीड़ित जनता का अनुपात भूख की समस्या से मुक्त जनता की तुलना मे बहुत बड़ा है, विकराल है। मुझे बहुत बार साधारण हिसाब सूझता है तो सोचता हूँ –यदि यह जनतंत्र लोगो द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो से चलता है और लोगो मे बहुमत भुक्खडों का है तो क्यों नहीं भुक्खड़ चुने जाते ? क्यों नहीं भुक्खड़ों के प्रतिनिधि भूख को मिटाने के लिए ईमानदार प्रयास करते ? और अपने ही सोचने के ढग पर हँस देता हूँ। प्रभावग्रस्त मतदाता किसी प्रभाव–सम्पन्न को ही मत देता है। प्रभाव–सम्पन्नता की धाक ठाठबाट और पैसे का पानी की तरह बहाकर ही बिठायी जा सकती है। अपनगे गाधी बाबा ने हम आजादी दिला दी तो उनकी सादगी उसी के साथ राजघाट पर दफन गयी। बाद म तो हमने गोरे साहबों को भी शर्मिन्दा करने वाले राजसी ठाटबाट का दामन थाम लिया। हमारे मन-मत करण पर राज-काज और ठाटबाट का एक अविच्छेद्य रिश्ता होने का बात अर्पित हुई। जिस बबई के अखबारो ने उत्तर वियतनाम के स्वर्गीय अध्यक्ष हो ची मिन्ह की बम्बई भेंट के समय खाकी वर्दी, कमर पर पट्टे की जगह साइकिल की उतरी हुई (बेकार हुई, पुरानी पड़ी) चैन को देखकर और सभा के मंच पर गद्देदार कुर्सी पर बठने से इन्कार कर लकड़ी की एक सादी कुर्सी मे बैठने देखकर, उनकी सादगी की मुँह-फाड़ स्तुति कर डाली थी उन्ही को इन दिनो मे यह छापने पर विवश होना पड़ा है कि बम्बई के मेयर आयातित बड़ी कार इसलिए मगवाना चाहते हैं कि देशी कार म वे कहीं जाते हैं तो जनता उनकी इज्जत नहीं करती। इज्जत की बात दूर रही प्राय: निरन्

जाने के लिए रास्ता तक नहीं देती। 'जनता' का यह चरित्र यो ही निर्माण नहीं हुवा है। यदि यहाँ का राजनेता भी स्वाधीनता के बाद अपना चरित्र बदल कर आदर्श चरित्र को जनता के सामने रखा तो कोई कारण न था कि यहाँ की जनता भी टायर की फटी चप्पल पहनने वाले मंत्री को आदर से न देखती। परन्तु आज स्थिति इसके ठीक विपरीत है। कल तक जो टायर की टूटी चप्पल घसीटता था और आज नाना तिकडमो मे लखपति बन बैठा है उसी नेता के चमत्कार की धाक जनता स्वीकारती है। यह चारित्रिक परिवर्तन सहज मे नही हुवा है। इसके पीछे नई शक्तियो के विकट षड्यन्त्र हैं। उनका शिकार भोला-भाला, अशिक्षित तो होता ही है। सोचने वालों की, तथाकथित बुद्धिजीवियो की स्थिति भी कोई बहुत अच्छी है यह बात नही। धूमिल के शब्द ही इसके लिए द्रष्टव्य हैं—

'सिर कटे मुर्गे की तरह फडकते हुए जनतत्र मे
सुबह—
सिर्फ चमकते हुए रगो की चालबाजी है
और यह जानकर भी तुम चुप रहोगे
या शायद, वापसी के लिए पहल करने वाले
आदमी की तलाश मे
एक बार फिर
तुम लौट जाना चाहोगे मुर्दा इतिहास मे
मगर तभी—
यादो पर पर्दा डालती हुई सवेरे की
फिरगी हवा बहने लगेगी
अखबारो की धूप और
वनस्पतियो के हरे मुहावरे
तुम्हें तसल्ली देंगे
और जलते हुए जनतत्र के सूर्योदय मे
शरीक होने के लिए
तुम, चुपचाप, अपनी दिनचर्या का
पिछला दरवाजा खोलकर
बाहर आ जाओगे'

(स 15–16)

धूमिल अपने समय की दुस्थिति का उत्तरदायित्व सोच समझकर राजनेताओ के साथ-साथ प्रशासनाधिकारियो के कधो पर भी होने मे विश्वास करता है। दुस्थिति से मेरा तात्पर्य यथास्थिति से है। यथास्थिति का अर्थ वही भूख की पूजी पर फूलने-फलने वाले जनतत्र को जानिये। यदि भूख मिटी तो आज के राज-

नेताओं का जनतंत्र खत्म हुआ । इसलिए भूख को मिटने से बचाने के कई उपाय हैं । पहला उपाय तो यही है कि भूख की समस्या से लोगों का ध्यान ही हटा दो । हमारे पड़ोसी पाकिस्तान के लिए यह काम हमसे अपेक्षाकृत सरल रहा है । जिस समय गेहूँ कम उपजा उस समय भारत से जेहाद का नारा बुलन्द हुआ । लोग भूख से बेखबर होकर भारत में इस्लाम के खतरे की बनी-बनायी पाकिस्तानी पत्रों की खबरें पढ़ने सुनने में व्यस्त । हमारे देश ने भी इस क्षेत्र में पीछे रहना ठीक नहीं समझा । हमारे राजनेताओं ने भूख की समस्या से लोगों का ध्यान दूसरी ओर ले जाने के लिए और कुछ समस्याओं को पैदा किया । भाषा की समस्या उन्हीं में से एक है । इसे तो स्वाधीन भारत का एक बड़ा मजाक कहना होगा कि सर्वसम्मत 'राष्ट्रभाषा' के रूप में प्रतिष्ठित हिन्दी को सपर्क-भाषा' के रूप में स्वीकारने का पहले आग्रह हुआ और फिर अगरेजी के साथ-साथ इसे भी एक राष्ट्रभाषा मानने की चिरोरी हुई । खैर, इस भाषा विवाद की बारीकियों को देखने का यह प्रसग नहीं । यहाँ तो भाषा समस्या के उद्‌भव का कारण स्वयं धूमिल के शब्दों में देना चाहता हूँ—

> यानी कि मेरे या तुम्हारे शहर में
> चन्द चालाक लोगों ने—
> (जिनकी नरभक्षी जीभ ने
> पसीने का स्वाद चख लिया है)
> बहस के लिए
> भूख की जगह
> भाषा को रख दिया है
> उन्हें मालूम है कि भूख से
> भागा हुआ आदमी
> भाषा की ओर जायेगा
> उन्होंने समझ लिया है कि
> एक भुक्खड़ जब गुस्सा करेगा,
> अपनी ही अगुलियाँ
> चबायेगा

(स 95)

जब कुछ स्वार्थी लोगों ने, चालाक लोगों ने भाषा की समस्या की आड़ म अपना शोषण का अधिकार बरकरार रखने का इतजाम किया तो इस नयी समस्या को फैलने-विकट होने मे देर नहीं लगी । देखते ही-देखते इसकी चपेट में सारा भारतवर्ष आ गया । विशेषत दक्षिण में तो 1967 में हिन्दी के विरोध में जो दगे हुवे, जो विर्पत्ती हुवा वह निकली उसका इतिहास बिल्कुल ताजा है । इस भाषा-समस्या के स्वरूप और दुष्परिणामों को शब्द देते हुवे धूमिल ने लिखा था—

भाषा और भाषा की बीच की दरार मे
उत्तर और दक्षिण की तरफ
फन पटकता हुआ
एक दो मुंहा विषधर
रेंग रहा है
रोजी के नाम पर
रोटी के नाम पर
जगह-जगह जहर
और वह देखो कि—आऽऽहै
प्रादेशिकता का चेहरा लगाये हुए
कोई घुसपैठिया है ?

(स 10 –102)

अपने देश की मूलभूत समस्या भूख की समस्या है। वह मौलिक भी है। उसे किसी बाहरी शक्ति की प्रेरणा से यहाँ फैलने मे सहायता नही मिली है। परन्तु और और समस्याएँ और विशेषत भाषा की समस्या के पीछे तो विदेशियो के षड्यत्र की दुर्गन्ध आती है। उपयुक्त पक्तियो मे वह प्रश्नात्मक मुद्रा मे आई है। धूमिल इसमे भी अधिक स्पष्ट शब्दो मे उक्त समस्या का वास्तविक रूप रखता हुआ लिखता है—

दूर बहुत दूर
जहाँ आसमान अपने बौने हाथो से
हिन्दुस्थान की जमीन को
नगा कर रहा है
एक विदेशी मुद्रावाला—
प्रवैतनिक दुभाषिया खिलखिला रहा है—
और वो देखो—
वह निहाल-तोदियल
कैसा मगन है
हुचुर-हुचुर हँस रहा है

(स 103)

बिना किसी क्षोभ के
उसने अपनी तख्तियो के अक्षर
बदल दिये हैं
क्योंकि बनिया की भाषा तो सहमति की भाषा है

देश डूबता है तो डूबे
लोग ऊबते हैं तो ऊबें
जनता लट्टू हो
चाहे तटस्थ रहे
बहरहाल, वह सिर्फ यह चाहता है
कि उसका स्वस्तिक
स्वस्थ रहे

(स 104)

धूमिल अपने समय की प्राय सभी प्रकार की समस्याओं से परिचित था। समस्याएँ और सकटो मे अन्तर होता है। सकट झुण्ड बनाकर धावा बोलते हैं जब कि समस्याएँ एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी और तीसरी से चौथी निकलती हुई अपनी निरतरता बनाये रखती हैं। हनुमानजी की बढती पूँछ की तरह कोई समस्या खत्म होने का नाम ही नही लेती क्योकि किसी भी समस्या का समाधान आसानी से ढू ढा नही जाता। विदेशियो की कुटिल राजनीति ने यहाँ भाषा की समस्या को उभाडा। उसी से एक और दूसरी समस्या उत्पन्न हुई–तोड फोड की। उसका सकेत भी धूमिल इन शब्दो म करता है—

वे मेरे देश के हम उम्र नौजवान
जिनकी आँखो मे
रोजगार दफ्तर की
नोनछटी ईंटो का अक्स
झिलमिला रहा है—
वे मेरे दोस्त—
किस तेजी से तोडना चाहते हैं भाषा भ्रम
लेकिन रेल का डिब्बा टूट रहा है

(स 102)

वस्तुत किसी भी प्रश्न को लेकर खडे किये जाने वाले आन्दोलन मे तोड-फोड की घटनाएँ इस देश की स्वाधीनता को मिला हुआ एक और अभिशाप है। ऐसी तोड फोड की कार्यवाही मे देश के युवको का शामिल होना उनके अपने भविष्य के प्रति आशकाग्रस्त मन का प्रमाण अवश्य हो सकता है परन्तु तोड-फाड तो उन्ह अपना भविष्य उज्ज्वल बनाने मे किसी भी प्रकार की सहायता नही कर सकती। इधर, हमारे पास कुछ वर्ष हुए एक आन्दोलन 'विकास आन्दोलन' के नाम से चल पडा था। इस पिछडे हुवे प्रदेश के विकास की ओर शासको का ध्यान आकर्षित करने के लिए भारी उत्पात मचाया गया था। कई बसें जलायी गयी थीं और भी

कुछ सरकारी सपत्ति को नष्ट किया गया था। यदि विकास निर्माण का दूजा नाम है तो ध्वस से उसका क्या सम्बन्ध ? परन्तु इस देश की राजनीति ही कुछ ऐसी बनी है कि ऐसे ही विध्वसक आन्दोलनों के सिवा किसी भी प्रश्न पर गम्भीरता को समझने के लिए कोई तैयार नहीं होता। भाषा-समस्या और रेल के डिब्बे का कोई बादरायण सबध नहीं। बहुत हुवा तो कुछ डिब्बों पर आप जिस भाषा के विरोध में आन्दोलन खड़ा कर रहे हैं उस भाषा में कुछ लिखा हुवा होता है। यदि ऐसा हो तो आप उस लिखे हुए को मिटा दीजिए और अपनी प्रिय भाषा में कलात्मक ढग से वही जानकारी लिख डालिये जो उस डिब्बे में बैठने वालो के लिए उपयुक्त हो सकती है। डिब्बा तोड़ने या जला डालने से क्या लाभ ? यह तो उस अदनी-सी सुविधा को भी साधारण जनता से छीनने का पाप करना है जो आजादी के बाद उसे और अच्छे रूप में मिलनी चाहिये थी।

तोड़-फोड की प्रवृत्ति से हिंसक वृत्ति उपजती है। जब तक सरकारी या दूसरे की सपत्ति का विनाश होता है, किसी को भी इस वृत्ति की समस्या पर ध्यान देने की न आवश्यकता अनुभव होती है, न किसी के पास उतनी फुर्सत ही होती है। परिणाम यह निकल आता है कि बड़ों की जोड-तोड और उखाड-पछाड की राजनीति और युवकों के तोड-फोड वाले आन्दोलनों के कुसस्कार एक-एक परिवार में विघटन उत्पन्न कर देते हैं। यह विघटन की स्थिति तब कराल समस्या का रूप धारण कर लेती है जब अबोध मन में भी हिंसा के प्रति सहज आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। धूमिल लिखता है —

> और एक जगल है—
> मतदान के बाद खून में अँधेरा
> पछीटता हुआ। (जगल मुखबिर है)
> उसकी आँखों में
> चमकता हुआ भाई चारा
> किसी भी रोज तुम्हारे चहरे की हरियाली को,
> बेमुरव्वतकाट सकता है।
> खबरदार!
> उसने तुम्हारे परिवार को
> नफरत के उस मुकाम पर ला खड़ा किया है
> कि कल तुम्हारा सबसे छोटा लड़का भी
> तुम्हारे पड़ोसी का गला
> अचानक,
> अपने स्लेट से काट सकता है।
>
> (स 74-75)

धूमिल इन सारी समस्याओं की जड़ में भूख को ही देखता था और भूख को दक्षिणपंथी राजनीति की साजिश समझता था। इसीलिए उसने आवाह्नात्मक प्रश्न किया था—

> क्या मैंने गलत कहा ? आखिरकार
> इस खाली पेट के सिवा
> तुम्हारे पास वह कौनसी सुरक्षित
> जगह है, जहाँ खड़े होकर
> तुम अपने दाहिने हाथ की
> साजिश के खिलाफ लड़ोगे ?
>
> (स 73)

दक्षिणपंथी राजनीति परम्पराओं और रूढ़ियों, अंध श्रद्धाओं और अवैज्ञानिक धारणाओं पर पलती है। उसके खिलाफ लड़ना कोई सहज काम नहीं। यह काम इतना कठिन है कि इसे एक व्यावहारिक दृष्टान्त देकर धूमिल जैसा कवि ही सरल-सुबोध ढंग से बखूबी समझा सकता है। उसने लिखा है—

> यह एक खुला हुआ सच है कि आदमी—
> दायें हाथ की नैतिकता से
> इस कदर मजबूर होता है
> कि तमाम उम्र गुजर जाती है मगर गाँड
> सिर्फ, बायाँ हाथ धोता है।
>
> (स 73)

धूमिल के सामने व्यवस्था के साथ लोहा लेने की भी एक समस्या है। व्यवस्था एक ऐसा सिक्का होता है जिसकी एक बाजू पर रूढ़ नैतिकता की मन-सम्मोहन लोरियाँ अंकित होती हैं और दूसरी बाजू पर एक भयावह देवी का चित्र अंकित होता है। जो रूढ़ नैतिकता के सामने नतमस्तक होता है उसे अमर देती है—जीने और मरने का एक-सा अधिकार देती है। जो व्यवस्था का विरोधी बनता है उसको समाप्त कर देती है। व्यवस्था के विरोध में लड़ना आसान नहीं होता क्योंकि उसका समर्थन करने वाले घाघ, विरोध करने वालों के खून के प्यासे होते हैं। व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह सफल हो जाये तो इतिहास उसे गौरव नहीं देता। वह तो समझता है—यह जीर्ण-शीर्ण व्यवस्था टूटनी ही थी। परन्तु यदि विद्रोह विफल हो जाय और उसमें कई विद्रोहियों को आत्मउत्सर्ग करना पड़े तो इतिहास में ताजगी आती है। धूमिल भी व्यवस्था के विरुद्ध लड़ने में भय खाता हुआ लिखता है—

हाँ, मैं भयभीत हू
व्यवस्था की खोह मे
हर तरफ
बूढ़े और रक्त लोलुप मशालची
घूम रहे हैं
इतिहास की ताजगी
बनाये रखने के लिए
नौजवान और सफल
मौतो की टोह मे
उन्हे हमारी तलाश है।

(स 100)

व्यवस्था को बदलने की शक्ति किसी एक अकेले मे या फिर पाँच-दस लोगो मे होती नही। यदि शासन-सरकार-चाहे तो उस काम मे कुछ सफलता अवश्य मिल सकती है। परन्तु धूमिल शासन से भी निराश है निराशा का कारण युक्ति-युक्त है। यदि देश के शासन को चलने वाली ससद ही व्यवस्था को यथावत् बनाय रखने के पक्ष मे हो जाय तो परिवर्तन की आशा बेमानी होगी। ससद का यही चरित्र कवि को 'ससद से सडक' तक आने के लिए विवश करता-सा लगता है। ससद को ही यदि वतमान व्यवस्था को बनाए रखने मे रुचि हो तो देश के साधारण लोग भला क्या कर सकते हैं। ससद के प्रति धूमिल के कहे गये ये शब्द इतने सटीक, सार्थक और ससद के चरित्र को उसकी सपूर्णता के साथ उजागर करने वाले हैं कि जिसकी कोई सीमा नही। उसने लिखा—

और वह सडक—
समझौता बन गयी है जिस पर खडे होकर
कल तुमने ससद को
बाहर आने के लिए आवाज दी थी
नही, अब वहाँ कोई नही है
मतलब की इबारत से होकर
सब के सब व्यवस्था के पक्ष मैं
चले गये हैं —

(स 73–74)

और सभी ने मिलकर एक ऐसी व्यवस्था को जीवित रखा है जिसमे रोटी बेलने वाला, खाने वाला और रोटी से खेलने वाला ये तीन वग उत्पन्न हुवे है।

संसद यह नही बता पाती कि यह तीसरा वर्ग कौन है ? वह क्या बताएगी ? कवि के इन विचारो की सार्थकता तो हमे तभी समझ मे आ जाती है जब किसी दिन अकस्मात् पढने को मिलता है कि अमुक-अमुक नेताजी ठेठ उपेक्षित, पददलित और दरिद्र जाति और परिवार के हैं फिर भी उन्होने राजनीति मे जाकर इतना कुछ कमा लिया है कि सैकडो झोपडीनुमा घरो वाले देहात म उन्हीं का दौलतखाना, अनेक मजिलो का बना हुआ है । और वातानुकूलित भी किया गया है ।।

इस देश की ससद केवल रोटी के सवाल पर ही मौन है यह बात भूख की समस्या की भीषणता को सही रूप म समझती है परन्तु इस मे दोष यह है कि ससद को हम गलत समझ जाते हैं । केवल भूख ही नही इससे थोडे आगे की—आवास की समस्या पर भी ससद कोई समाधान ढूँढ न सकी है । जहाँ पेट ही खाली हो, शरीर विवस्त्र हो और ससद मौन हो तो ऐसी स्थिति मे आवास की छत की इच्छा करना भी बेमानी के सिवा और क्या हो सकता है ! इसी को भांप कर धूमिल ने लिखा है—

> सहसा हम क्यो चाहने लगते हैं, हमारे सिरो पर
> छत हो ।
> (जनतान्त्रिक)— वर्षा म धुली हुई
> क्या यह खुली सडक काफी नही है
> (सच्चाई और शोहरत के बीच बिछी हुई ससद तक)
> (कल 42)

खाली पेट की आग मे सुनभने समाज की रोटी की समस्या और भूख की समस्या और भूख की समस्या से उबरे समाज की आवास की समस्या के प्रति ससद बेखबर है । उसके बारे म किसी भी प्रश्न का कोई भी समाधान ससद के पास नही है । उक्त समस्याओ के सिवा तोड-फोड और हिंसा की समस्या और भाषा की समस्या का भी उस (ससद) के पास कोई समाधान नही है । इनके अतिरिक्त एक और ऐसी समस्या का सकेत धूमिल ने किया है जिसका सबध ससद से है । वह समस्या है न्याय की । इस देश की न्याय पद्धति बेहद सदोष है । उसकी अनुपयोगिता तो 'न्याय अन्धा होता है' और 'सच्च सयान का चाहिए कि वह कभी भी न्यायालय की सीढी न चढे' जैसे लोक-विश्वासो मे प्रकट होती रहती है । न्यायदान की व्यवस्था क्या है यह तो सडीगली व्यवस्था को बचाए रखाने का प्रतिष्ठित मार्ग है । इसमे दलालो—वकीलो—की न्यायाधीश और न्याय मागने वालों के बीच की भूमिका एक ओर पहले की (ब्रिटिशकालीन) प्रतिष्ठा (!) को बनाये रखने वाली और दूसरे के अज्ञान की उसे सजा देने की रहती है । यहाँ के न्याय की दीर्घसूत्रता सम्भवत

उतना ही बड़ा दोष है जितना उसका प्रत्यक्ष (?) गवाहों पर निर्भर करने का महादोष है। वैसे न्याय-व्यवस्था पर लिखने का यह प्रसग नहीं और आवश्यकता भी नहीं है परन्तु इतना जोड़ देना अनिवार्य है कि यहाँ का न्याय गरीबो के लिए नहीं अमीरो के लिए है। गरीब न्यायालय की सीढ़ी चढ़ता है तो वह यदि छोटा किसान है तो खेतिहर मजदूर होकर ही सीढ़ी उतर सकता है। खेतिहर मजदूर तो उस सीढ़ी पर पैर भी नहीं रख सकता। गांव से न्यायालय पहुँचने वाले लोग पहले अपने खेतो मे महाभारत खेल लेते हैं और तब जाकर कहीं न्यायालय का दरवाजा खटखटाते है। भाई भाई मे पहले सिर फुटौव्वल होता है और फिर उन्हे कचहरी से न्याय माँगने की सूझती है। परतु क्या उन्हे न्याय मिलता है? और यदि मिलता भी है तो कैसा होता है वह? धूमिल ने इस पर अत्यधिक सार्थक लिखा है—

> नलकूपो की नालियाँ झरना हो गयी हैं
> उनमे अब लाठियाँ बहती है।
> पानी की जगह
> आदमी का खून रिसता है।
> गाव की सरहद
> पार करके कुछ लोग
> बगल मे बस्ता दबा कर कचहरी जाते है
> और न्याय के नाम पर
> पूरे परिवार की बरबादी उठा लाते हैं
> (कल 75–76)

आखिर इन समस्याओ की अनसुलझी होने के कारण क्या है? उन कारणो से भी धूमिल बेखबर नही था। केवल ससद के मौन होने का कारण तो पर्याप्त नही है। दूसरा प्रश्न किया जा सकता है कि ससद मौन क्यो मौन है? इसका बहुत साफ-सुथरा उत्तर उसने 'पटकथा' मे दिया है। ससद जिन राजनेताओ से बनी है उनके चरित्र के बारे मे इतनी बेलाग और सच्चाई से अभिन्न धारणा रखने वाला केवल धूमिल ही हो सकता है। वह ससद क्या करेगी हमारे देशवासियो की भूख मिटाने, तन ढकने और सिर छिपाने के लिए आवास बनवाने के लिए, जिसके सदस्यो का चरित्र और सोचने का ढग ही सच्चे जनतत्र के बिल्कुल अयोग्य हो? जिनका एकमात्र लक्ष्य येनकेनप्रकारेण चुनाव जीतना और सामदामदडभेद की नीति से कुर्सी प्राप्त करना हो, ऐसे राजनेता जनसाधारण की समस्याओ के प्रति उदास हो तो क्या आश्चर्य! इस देश की चुनाव की राजनीति और राजनेता की योग्यता का वास्तविक स्वरूप अकित करते हुवे धूमिल ने लिखा है—

एक-दूसरे से नफरत करते हुए वे
इस बात पर सहमत हैं कि इस देश मे
असख्य रोग हैं
और उनका एक मात्र इलाज—
चुनाव है ।
लेकिन मुझे लगा कि एक विशाल दलदल के किनारे
बहुत बडा अधमरा पशु पडा हुआ है
उसकी नाभि मे एक सडा हुआ-घाव है
जिससे लगातार-भयानक बदबूदार मवाद
बह रहा है
उसमे जाति और धर्म और सम्प्रदाय और
पेशा और पूंजी के असख्य कीडे
बिलबिला रहे हैं और अन्धकार मे
डूबी हुई पृथ्वी
(पता नहीं किस अनहोनी की प्रतीक्षा मे)
इस भीषण सडांध को चुपचाप सह रही है
मगर आपस मे नफरत करते हुए वे लोग
इस बात पर सहमत हैं कि
'चुनाव' ही सही इलाज है
क्योंकि बुरे और बुरे के बीच से
किसी हद तक 'कम-से-कम बुरे को' चुनते हुए
न उन्हें मलाल है, न भय है
न लाज है
दर असल, उन्हे एक मौका मिला है
और इसी बहाने
वे अपने पडोसी को पराजित कर रहे हैं
मैंने देखा कि हर तरफ
मूढ़ता की हरी-हरी घास लहरा रही है
जिसे कुछ जगली पशु
खूंद रहे हैं
लीद रहे हैं
चर रहे हैं

(स 130–131)

ऐसे राजनयिकों से बनी ससद भला गोटी से खेलने वाले तीसरे आदमी के बारे मे मौन न रहेगी तो और क्या करेगी ? ससद के मोर्चे पर हम अपनी समस्याओ मे लड़ नही सकते तो उनके साथ लड़ने के लिए सड़क पर क्यो नही आ सकते ? खेत-खलिहानो मे छिपे छिपाए शस्त्रो से हम व्यवस्था को पलट देने के लिए रक्त बहाने वाली क्रान्ति क्यों नही कर पाते ? इन प्रश्नो को भी धूमिल से सोचा जाना स्वाभाविक था। क्योकि उनके जीवित रहते-रहते ही इस देश में नक्सलवादी आंदोलन उठ खड़ा हुआ था। कुछ समय के लिए यह लगा था कि अब भूख को उपजाने-बढ़ाने पालने वाली व्यवस्था का अन्त सन्निकट है। परन्तु ऐसा न हो सका। व्यवस्था के विरोध मे तना हुआ नक्सलवादी मुक्का भी भूख से रिरियाती फैली हथेली से अधिक शक्तिशाली, प्रभावी सिद्ध न हो सका। वह वज्रसा कठोर न बन सका। इसका कारण वह मात्र मुक्का था, केवल तनी हुई मुठ्ठी थी। धूमिल के शब्द देखिए—

> भूख से रिरियाती हुई फैली हथेली का नाम
> 'दया' है
> और भूख मे
> तनी हुई मुठ्ठी का नाम
> नक्सलबाड़ी है
>
> (स 140)

समद और नक्सलवादी आन्दोलन जैसे सवैधानिक और क्रान्तिकारी मार्ग मे अपनी व्यवस्था मे परिवर्तन लाकर हमारी समस्याओ को हल करने के प्रयास विफल हुवे। व्यक्तिगत स्तर पर किये जाने वाले प्रयास भी विफल होते रहे। आखिर इन विफलताओ के कारण केवल राजनीति की भ्रष्टता, राजनेताओ के दुश्चरित्र ही नही थे। इस व्यवस्था को यथावद् बनाये रखने के पीछे इससे भी मूलगामी कारण था। और उस कारण को धूमिल ने जान लिया था। हमारी विकराल समस्याओ को हल न कर सकने वालो के विरोध मे यहाँ का 'विद्रोही' ही ठस दिमाग का है। उसे ये पूजीवादी सुविधाएँ लुभाती है और क्रान्ति के प्रति उसके ईमान को बेच कर उन सुविधाओ को प्राप्त करने पर उकसाती हैं, विवश कर देती हैं। यह सारी कमजोरी उसके अतराफ चक्कर काटने वाले 'पूजीवादी' चिन्तन के प्रभाव के कारण उत्पन्न हो जाती है। उसका क्रांति का जोश ठडा पड जाता है। वह क्रान्ति के स्थान पर उत्क्रान्ति चाहने लगता है। और यह सारा परिवर्तन 'चन्द टुच्ची सुविधाओ को पाने मात्र से हो जाता है। जिसके पास थोड़ी-सी भी सुविधाएँ होती हैं वह क्रान्ति का विरोधी बन जाता है। ये सुविधाएँ भौतिक ही हो यह आवश्यक नही होता।

वैसे बात कुछ अप्रासंगिक लगेगी परन्तु क्रांति और सुविधा का परस्पर विरोध स्पष्ट करने के संदर्भ में कहना चाहूँगा। लोग अक्सर इस देश की जातिपाँति की व्यवस्था को प्रकट रूप में बुरा कहते हैं परन्तु अन्दरूनी तौर पर उसे बनाये रखने के पक्ष में सोचते हैं और काम करते जाते हैं। यह क्यों ? इसका कारण है जाति-व्यवस्था का विरोध क्रान्तिकारिता है और उसका समर्थन सुविधा भोग। हम वाचा से क्रांति और कर्म से सुविधाभोग के पक्ष में होते हैं। मेरा यह तर्क कि जाति पाँति की व्यवस्था में सुविधाएँ होती हैं कुछ अटपटा लगेगा। परन्तु सच्चाई है कि यहाँ की तथाकथित छोटी जाति भी अपने अस्तित्व को समाप्त कर किसी और तत्सम जाति में मिल घुल जाना नहीं चाहती। ऐसा इसलिए होता है कि हर जाति—चाहे बड़ी हो या छोटी—अपने अस्तित्व को खोखली गरिमा प्रदान करती है। स्वतन्त्र अस्तित्व की रक्षा के लिए प्रयासशील रहती है। इसी प्रवृत्ति को देखकर 19वीं शती के एक मनीषी अंगरेज पर्यटक को आश्चर्य हुआ था। उसने यात्रा के अपने अनुभवों में इस बात को भी जोड़ दिया था कि भारत की छोटी से छोटी जाति अपने अस्तित्व को स्वतन्त्र रूप से बनाये रखने में सतर्कता बरतती है और स्वतन्त्र अस्तित्व पर गर्व का अनुभव करती है। इसलिए भारत में जाति व्यवस्था कभी खत्म होगी इसमें सन्देह है। उक्त यात्री की धारणा में सच्चाई का बड़ा बल है। मैंने कहा है कि जाति को हमने सुविधा के साथ जोड़ा है। स्वाधीनता के बाद तो जाति और सम्प्रदायों के के साथ विशेषाधिकार और सुविधाएँ भी आ मिली हैं। संविधान से मिले सम्प्रदाय और जाति पर आधारित विशेष अधिकारों ने सुविधाओं ने तो पूर्व प्रचलित साम्प्रदायिकता और जातिपाँति की भावना को बहुत अधिक सुदृढ़ बनाया है। आज सम्प्रदाय और जातिपाँति की कट्टरता समाज को कुछ ऐसी स्थिति में पहुँचा चुकी है कि जहाँ से लौटना शायद संभव नहीं है।

जाति और सम्प्रदाय के साथ सुविधा जोड़ने की बात को मैंने ठोस और भौतिक लाभ के बिना भी सुविधा का अनुभव करने की हमारी मानसिकता के रूप में देखा है। कुछ लम्बा खिंचेगा यह प्रसंग सुविधा का परन्तु धूमिल के एक महत्वपूर्ण विचार को स्पष्ट रूप से समझने में इससे सहायता मिल सकने की आशा है इसीलिए लिख रहा हूँ। एक उदाहरण द्वारा अपने उक्त मन्तव्य को स्पष्ट करना चाहता हूँ। समझ लीजिए कि एक प्रदेश में एक जाति विशेष है जिसे मैं क्ष कहना चाहूँगा। उस जाति का उस प्रान्त में संख्या की दृष्टि से बहुत बड़ा अनुपात है। आर्थिक दृष्टि से उसके दो वर्ग हैं—एक बेहद निर्धनों का और दूसरा है बड़े जमींदारों का। उस जाति की कुल जनसंख्या सौ समझिए। उनमें से मात्र तीन जमींदार हैं और सत्तानवे निर्धन मजदूर हैं। कुल आबादी जिनमें और भी जातियाँ शामिल हैं की स्थिति ऐसी अभावग्रस्त है कि वहाँ खूनी क्रान्ति होने की पूरी आर्थिक संभावनाएँ मौजूद हैं। फिर भी एक जाति विशेष के मात्र तीन प्रतिशत लोगों की धन और जमीन के स्वामित्व की असीम सुविधाओं पर आँच नहीं आ सकती। यदि कभी किसी संयोगवश

कुछ विरोध विप्लव हो भी जाय तो उसे दबाने मे उन तीन प्रतिशत लोगो की सहायता उन्ही की जाति विशेष के शेष सत्तानवे प्रतिशत लोग भी करते हैं। जब कभी हमारे यहां आर्थिक सरचना की, सपत्ति विषयक यथास्थिति को तोडने का अवसर आता है तो उसका विरोध जाति के आधार पर होता है। वस्तुत एक जाति विशेष के तीन प्रतिशत लोगो की घन सपदा और जमीन से उसी जाति के सत्तानवे प्रतिशत निर्धनो के लिए और अत्यल्प भूधारको के लिये किसी भी प्रकार का प्रत्यक्ष लाभ नही मिलता परन्तु तीन प्रतिशत लोगों को केवल जाति–विशेष से सम्बन्धित होने का लाभ उनकी सम्पत्ति और जमीन की सुरक्षा मे सुविधा के ठोस रूप मे मिलता है जबकि शेष सत्तानवे प्रतिशत लोगो को जमीदारो की जाति–विशेष से सलग्न होने का गर्व करने का अवसर मात्र हाथ लगता है। फिर भी वे लोग इस सलग्नता को सुविधा के रूप मे स्वीकारते हैं और अपने अभाव-पीडित जीवन का बोझ ढोते हुवे भी जातिपाति के अभिमान से अविच्छेद्य रूप से चिपके रहते हैं।

एक और जाति का उदाहरण लीजिए। उसे हम ज जाति कहेंगे। उस जाति-विशेष की विशेषता यह है कि उसके, प्रादेशिक जनसख्या के अनुपात मे बहुत अधिक लोग शासकीय और गैरशासकीय सेवाओ छोटे बडे पदो पर काबिज हैं। जाति पढी-लिखी है। प्रगत है। यदि उस जाति के कुछ ही होनहारो को उनकी योग्यता (!) के अनुसार कही काम का अवसर न मिला तो वे बडी हाय–तौबा मचाते है। वह जाति अल्पसख्य होने से लोकतन्त्रीय तिकडमी से बनी बहुसख्यकों की सरकार की वे कटुतम आलोचना कर डालते हैं। शासन का भ्रष्टाचार, शासको का भाई-भतीजावाद और जातिपातिगत पक्षपात के विरुद्ध 'क्रान्ति' करने की स्थिति का आभास उत्पन्न कर देते हैं परन्तु ज्यो ही कही उनके पेटपानी का इन्तजाम हो जाता है, उनकी इन्कलाबी जबान पहले तो हकलाती है और फिर बेहद बेशर्मी से क्रान्ति के स्थान पर उत्क्रान्ति की भाषा बोलने लगती है। मेरी समझ मे किसी जाति विशेष का अपढ वर्ग यदि जाति पाति के बहकावे मे आकर वर्ग सघर्ष की राह का रोडा बनता हो तो उसमे उतना दोष नहीं जितना कि शिक्षित और सुसस्कृत समझी जाने वाली जाति के लोगो का जातिगत श्रेष्ठत्व बनाये रखने के लिए दार्शनिक–वैचारिक–स्तर पर क्रान्ति के विरोध में उतर आने मे दोष है।

यदि मैं जातिपाति की दलदल से बाहर आकर सभी की समझ मे पैठ सके इस प्रकार की बात करना चाहूँ तो कह सकता हूँ–अपढ-अशिक्षितों का प्रतिक्रान्तिवादी होना क्षम्य हो सकता है परन्तु शिक्षितो-चिन्तकों-का क्रान्ति-द्रोह अक्षम्य होता है। मुझे याद आता है, एक बार हमारे इलाके मे अवर्षण (सूखे) के कारण अकाल पडा था। जिनके पास कुओं का पानी था उनके खेतो मे थोडी–बहुत फसल आयी थी। खेत-खलिहान का मौसम दूर हुए सपने-सा बीता था। आषाढ का महीना भीषण

अकाल को साथ लेकर आया था। लोग-भाड-मखाडो के पत्ते उबाल कर-पका कर उसमे नमक डाल कर खा रहे थे। उन्ही दिनो हमारे गाँव का बनिया लारियो मे मूगफली की बोरियाँ भर-भर कर बेचने के लिए शहर ले जा रहा था। न जाने गाँव के किस अज्ञात मस्तिष्क से क्रान्ति की कल्पना उपजी थी। हरिजन बस्ती के लोग दूसरे दिन सवेरे ही बनिये क घर के सामने इकठ्ठे हुवे थे। मूगफली की बोरियो से भरी लारी को घेर कर खडे थे। उनका कहना था—यह मूगफली इस गाँव की भूमि मे उपजी है तो इसी गाँव के लोगो को भूखे रखकर इसे शहर मे ले जाकर बेचने नहीं देंगे। पहले तो बनिया लोगो का समझाता रहा कि मूगफली उसकी सपत्ति है और वह अपनी सपति का स्वामी है और मर्जी का मालिक। वह चाहे तो उसे शहर ले जाकर बेच सकता है या घर मे भी रख सकता है। कानून से उसे कुछ भी करने से मजबूर नही किया जा सकता। परन्तु अपढ और भूखे लोगो के सामने कानून और सविधान की बातो के बखान से क्या फायदा? आखिर बनिया पुलिस को ले आने की धमकी पर उतर आया तो घेराव करने वाले एक तजुर्बेकार ने कहा कि यदि पुलिस उन सभी को जेल भेज देती है तो अच्छा ही है। जेल मे कम-से कम भूखो तो मरन की नौबत नही आएगी बनिया पक्का काइयाँ था। वह समझ गया कि पुलिस का मामला उसे सस्ते मे नहीं पडेगा। उसने तुरन्त एक बोरी का मुह खोल दिया और लारी की पिछली बाजू मे, भूमि पर उसे उडेल दिया। लारी की अगल-बगल और आगे खडे सभी लोग, जिनम स्त्रिया और बच्चे भी थे, लारी के पीछे दौड आय। लारी शुरू हुई और शहर का रास्ता नाप गयी। मुट्ठी भर मूगफली की लालच से क्रान्ति का इरादा चुक गया। इसे मैं प्रतिक्रान्तिवादिता कह कर गाली नही दे सकता। कई दिनों के भूखो ने मुठ्ठीभर मूगफली खाकर उस पर लोटाभर पानी पीकर चार साँसें अधिक जीने का इन्तजाम किया हो तो उनका क्या कसूर हो सकता है? ऐसे लोगो से व्यवस्था के विरोध म किया जाने वाला सघर्ष बाधित नही हो सकता। वास्तविक बाधा उन लोगो से पहुँचती है जो खुद को बुद्धिजीवी मानते हैं व्यवस्था का उग्र विरोधी समझते हैं और तुच्छी सुविधाओ के बदले अपनी क्रान्तिकारिता का तिलाजलि देने का जघन्य अपराध कर बैठते हैं। ऐसे ही लोगो की ओर इशारा करते हुवे धूमिल ने लिखा है—

> यद्यपि यह सही है कि मैं
> कोई ठडा आदमी नहीं हूँ
> मुझमे भी आग—है
> मगर वह
> भभक कर बाहर नहीं आती
> क्योंकि उसके चारो तरफ चक्कर काटता हुआ

एक 'पू जीवादी' दिमाग है
जो परिवर्तन तो चाहता है
मगर आहिस्ता–आहिस्ता
कुछ इस तरह कि चाजो की शालीनता
बनी रहे।
कुछ इस तरह कि कॉख भी ढकी रहे
और विरोध म उठे हुए हाथ की
मुठ्ठी भी तनी रहे ।
और यही वजह है कि बात
फैसले की हद तक
आते आते रुक जाती है
क्योंकि हर बार
चन्द टुच्ची सुविधाओं की लालच के सामने
अभियोग की भाषा चुक जाती है
(स० 126–12)

व्यवस्था के विरोध मे खडे रहने वालो की भाषा अभियोग की होती है। यह भाषा किसी प्रभावग्रस्त, अपढ–अशिक्षित से चुक जाती है तो उसकी सुविधाएँ अलग होती है और किसी पढे लिखे 'उच्चशिक्षित' से चुक जाती है तो उसकी सुविधाएँ अलग होती हैं। प्रभावग्रस्त को अपने प्राणो की रक्षा कर सकने की स्थिति ही बडी सुविधा लगती है जिसके लिए अपनी व्यवस्था की विद्रूपता को देखकर भी वह चुप रह जाता है। मेरे देहात मे एक भूमिहीन मजदूर का डेढ दो साल का एकलौता एक बच्चा, उसी की झोपडी से सटकर, एक जमीदार के अवैध रूप से बनवाये गये खाद के खड्ड मे इकठ्ठे हुवे बारिश के पानी मे, डूब कर मर गया। उस मजदूर को और उसकी पत्नी को बुला कर उस जमीदार ने एक कोरे कागज पर दोनो के अगूठो के निशान लगवा लिये और उस बच्चे को दफनाने का आदेश दिया। बाद मे उस कागज पर पुलिस दरोगा से पूछ कर रपट लिखी गयी—'हमारा बच्चा मिर्गी की बीमारी से परेशान था। उसी के दौरे मे वह पानी भरे खड्डे मे गिर गया। जिस दिन गिरा उसी दिन दिनभर उसे बेहद बुखार भी था और बुखार मे वह बडबडाता और उठकर भागता भी रहा था। मैंने उस मजदूर से पूछा था कि उसने सही-सही रपट पुलिस थाने मे क्यो नही दी ? उसने कहा था — बाबू जी हम लोगो को जिंदा रहना था इसलिए हमने कोरे कागज पर अगूठे के निशान लगा दिये थे।' उसकी असहायता और जीवित रहने के लिए निघृण-निर्मम व्यवस्था के साथ किया गया समझौता समझ मे आने वाली बात है परन्तु यदि आजका कोई क्रान्ति का, व्यवस्था के प्रति विद्रोह

का मुखर मसीहा चन्द टुच्ची सुविधाएँ पाकर चुप रहे तो इसे समूचे समाज और देश का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए। निःसन्देह रूप से यह बात कही जा सकती है कि उसकी वे टुच्ची सुविधाएँ उसकी भूख की समस्या से या जीवित के रक्षण से सम्बन्धित नहीं होतीं। भारतीय संस्कृति और रामचरित का गायक राष्ट्रकवि जब राज्यसभा की सदस्यता का सम्मान (और सुविधा) प्राप्त कर लेता है तो इस देश की संस्कृति की परम्परा से सम्मानित गाय के प्रति उसकी दृष्टि में धार्मिकता का लोप होकर वैज्ञानिकता उभर आती है। यह परिवर्तन आकस्मिक और अकारण नहीं होता बल्कि इसलिए होता है कि राष्ट्रकवि यह जानता है कि उसे राज्यसभा में सदस्य की सुविधा और सम्मान देने वाला राष्ट्रनायक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से गाय को देखता है। इस तरह की सुविधा के प्रति प्रतिबद्धता बौद्धिकता का सम्मान बढ़ाने वाली कहला नहीं सकती। अतः धूमिल का यह विचार कि टुच्ची सुविधाओं के कारण विद्रोही मन की अभियोग की भाषा चुक जाती है बड़ा सटीक और समुचित कथन लगता है।

बुद्धिजीवियों को बरगलाने वाली सुविधाओं का लालच उसके पूँजीवादी दिमाग की उपज होती है। पूँजीवादी दिमाग असुविधाओं के हकदारों में खुद की गिनती पहले स्थान पर रख कर करता है और सुविधाएँ त्यागने वालों की गिनती में स्वयं को छोड़कर गिनती आरम्भ कर देता है। पूँजीवादी दिमाग में आकस्मिक और आमूलचूल परिवर्तन के विचार के लिए प्रवेश निषिद्ध होता है। वह सब कुछ आहिस्ता-आहिस्ता और सुविधाओं का उपयोग करने वाला में स्वार्थ पर आंच न आये इस तरह का परिवर्तन चाहता है। ऐसा परिवर्तन जो रोटी खाने और रोटी से खेलने वाले सामाजिक वर्गों के हितों में कोई बाधा खड़ी न करता हो। पूँजीवादी दिमाग रोटी बेलने वाले वर्ग के अस्तित्व की रक्षा की अवश्य चिन्ता करता है परन्तु उसे अपने पास की अनेक सुविधाओं में से कुछ सुविधाएँ देकर अपने साथ खड़े रहने का अधिकार देने के लिए कभी भी तैयार नहीं होता। खैर, इसके बारे में कुछ और 'मोचीराम' कविता के संदर्भ में कह सकूँगा।

इस देश की संसद केवल भूख, भाषा-विवाद, तोड़-फोड़ आदि से सम्बन्धित समस्याओं के लिए ही जवाबदेह है यह समझना ठीक नहीं। यहाँ की सामाजिक समस्याओं को हल करने का दायित्व भी उसी के कंधे पर है। धूमिल ने भी उन सामाजिक समस्याओं को राजनीति के साथ समन्वित करके देखा था। उनका सुविस्तृत चित्रण 'पटकथा' का मूल कथ्य है। उसका विचार अगले किसी उचित प्रसंग पर करूँगा। धूमिल यदि अपनी समकालीन व्यवस्था से असन्तुष्ट था तो उसके मन में किस तरह की व्यवस्था का आदर्श होगा? इस प्रश्न का उत्तर उसकी बहुत कम कविताओं में मिलता है। व्यवस्था का आलोचक कोई पर्यायी व्यवस्था सामने

रख ही दे यह उसके लिए आवश्यक नहीं होता परन्तु यदि कोई ऐसा करे तो उसे सराहा जाता है। धूमिल ने भी एक ऐसे शोषण-मुक्त, स्वस्थ समाज की कल्पना कर रखी थी जिसमे रोटी की कमी गह्यं बात थी। दवाओं की दुर्लभता दुःसह थी, आवासो का अभाव अभिशाप था और कपडो की किल्लत (कमी) कबूल नहीं थी। उसने लिखा है—

मैने इन्तजार किया -
अब कोई बच्चा
भूखा रहकर स्कूल नही जाएगा
अब कोई छत बारिश मे
नही टपकेगी।
अब कोई आदमी कपडो की लाचारी मे
अपना नगा चेहरा नही पहनेगा
अब कोई दवा के अभाव मे
घुट-घुट कर नही मरेगा
अब कोई किसी की रोटी नही छीनेगा
कोई किसी को नगा नही करेगा
अब यह जमीन अपनी है
आसमान अपना है
जैसा पहले हुआ करता था—
सूर्य, हमारा सपना है
(स० 110)

सूरज का स्वप्नदर्शी यह विद्रोही कवि जीवन भर अपनी दुःसह स्थितियो से जूझना रहा। अपने समय की विकृति राजनीति की शब्दो के कोडो से खाल उधेडता रहा। ससद को निरुत्तर करने वाले सवाल पूछता रहा। यह सब उसने किस लिए किया? एक ऐसी बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय व्यवस्था का सपना साकार करने के लिए उसने सघर्ष किया जिस व्यवस्था मे भूख का नामोनिशान न था, जिसमे पारस्परिक घृणा न थी और जिसमे कमाकर खाने का सुखद अवसर था। उसे इस सच्चाई के प्रति कोई भ्राति नही थी कि उसकी आदर्श सामाजिक व्यवस्था उसके 'आज' मे देखने को नही मिलेगी फिर भी उसमे अदम्य आशावादित्त थी। आने वाले कल मे अपने आदर्श का समाज निर्माण हो सकने का उसे विश्वास था और उस निर्माण के लिए उसका लडना अनिवार्य है इसमे वह आस्थावान था। उसी के शब्दो मे—

कल सुनना मुझे
जब दूध के पौधे झर रहे हों सफेद फूल
नि शब्द पीते हुये बच्चे की जुबान पर
और रोटी खायी जा रही हो चौके मे
गोस्त के साथ। जब
खटकर (कमाकर) खाने की खुशी
परिवार और भाईचारे मे
बदल रही हो—कल सुनना मुझे।
आज मैं लड रहा हूँ।
(कल 69)

———

षष्ठ अध्याय

हिजड़ों ने भाषण दिए-लिंग-बोध पर

एक रुआँसा लड़का
मदरसे से वापस आता है
चारपाई पर
दायीं करवट लेता हुआ बाप
बेटे की कमीज पर गिरी हुई स्याही
देखकर
उसकी पढ़ाई के बारे में निश्चिन्त
हो जाता है।

(कल० 74-75)

और

वृद्ध की आँखों से खून चू रहा था
नगर के मुख्य चौरस्ते पर
शोक-प्रस्ताव पारित हुवे
हिजड़ों ने भाषण दिये
लिंग-बोध पर,
वेश्याओं ने कविताएं पढ़ीं—
आत्मबोध पर

(कल० 29)

उपर्युक्त दो उद्धरण मुझे अनायास ही स्व० धूमिल के व्यंग्य की मृदुता, उग्रता और व्यापकता को समझने के लिए विवश करते हैं। राजनीतिक बोध और राजनीतिक स्थिति की स्व० धूमिल की कविताओं के संदर्भ में विवेचन करते हुए उसके व्यंग्य का सांकेतिक चित्रण हुआ है। मैं चाहता हूँ, उसके व्यंग्य के रूप-स्वरूप

को इस अध्याय म कुछ विस्तार दूँ। इससे पहले कि उसकी कविताओं से धड़ाधड़ उद्धरणों को रखूँ और व्यग्य का विश्लेषण करू यह उचित समझता हूँ कि व्यग्य-सबधी थोडा सा सोच लूँ।

व्यग्य नयी कविता का प्राण-तत्व आत्मतत्व-सा स्वीकृत हुआ है। इसका कारण यह नहीं कि नम कवि अलकार, रस, ध्वनि आदि पुराने काव्यात्म-तत्वों स नफरत करते हैं बल्कि यह व्यग्य उन्हें आज की कविता की अनिवार्यता लगती है। समाज की स्थिति साहित्य म प्रतिबिम्बित होती है, इस सच्चाई को आज तक चुनौती नहीं मिली है। परतु मुझे लगता है जितना सामीप्य आज समाज और साहित्य मे स्थापित हुवा है उतना इसस पहल शायद शायद ही कभी हुवा था। कविता से मिलने वाले आनद को जिन दिनो ब्रह्मानद सहोदर स्वरूप माना जाता रहा था उन दिनो ब्रह्मानद को ही समझने वालो का समाज मे प्रतिशत बहुत कम था। आज व्यग्य को यदि जीवन की असगतियो से जन्मा जान लें तो मेरा विश्वास है जीवन की विसगतियों को समझने वालो का आज समाज म नि सन्देह रूप से बहुत ऊँचा प्रतिशत है। हमारे धमयुग मे जितने लोगो को ईश्वर की सत्ता म विश्वास था लगभग उतन ही लोगा का आज के राजनीति प्रधान युग मे, आधुनिक कहलाने वाले युग म, जीवन की विसगतियो का भान है। यही कारण है कि दर-दर भीख मागने वालो के कठ से फूटने वाले भजनो से जहाँ अध्यात्म प्रकट होता है वहाँ गली गली विकन्द्रित राजसत्ता के रोग से पीडित छोटे छोटे कायकर्ताओ की दैनदिन बहसो म भी सकीण राजनीति के स्वर गूँजते सुने जा सकते हैं। दिल्ली से लेकर गली तक फैली इस राजनीतिक चेतना का परिणाम यह निकल आया है कि उसने यहाँ के साहित्य को भी बहुत गहराई तक प्रभावित कर रखा है। पिछले अध्याय म मैंने इस बात का अवश्य सकेत किया कि आज के साहित्य म राजनीति और राजनता व्यग्य-पात्र बना हुवे हैं।

वस्तुत व्यग्य एक बडा व्यापक भावना है। विनोद, हास्य, ह्रास-परिहास-उपहास, ठट्ठा मसखरी आदि उसके नाना रूप है। यह मानवी स्वभाव का एक अनिवाय गुण-विशेष है। लकिन इस हम दुख के समान मार्यसत्य की कोटि म नहीं रख सकते। दुख दैविक, भौतिक और आध्यात्मिक हो सकता है परन्तु हास्य इस प्रकार की त्रिरूपा अनुभूति नहीं होती। हास्यवृत्ति मानवी सभ्यता के विकासक्रम म उपलब्ध हुई अमूल्य निधि है। मानवी सभ्यता के विकास क साथ व्यक्ति-जीवन म उत्पन्न होने वाली असह्य भावात्मक जटिलताओ व्यथाओ को सह्य बनान की रामबाण औषधि है। इसका जिस समाज मे ह्रास होता है उस समाज का जीवन अधिक कुठाग्रस्त होता है। यह हम केवल अपने जीवन की जटिलताओ स उपजे दुखा को सह्य बनाने म ही सहायता नहीं करती वरन् हम प्रगतिपथ पर निरतर

आगे बढने की प्रेरणा देती है। एक ओर इसका विशुद्ध हास्य-विनोद-रूप व्यक्तित्व की स्वस्थ चिन्तना को विकसित करता है। तो दूसरी ओर इसी का व्यंग्य-रूप हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक दोषो को समझने और उन्हे दूर करने मे हमारी सहायता करता है। कुछ वर्षों पहले मैंने पढा था कि अमरीका के विद्यालयो मे, ज्ञान-विज्ञान का अध्यापन शुरू करने से पहले अध्यापक छात्र-छात्राओ को कुछ हास्य विनोद की बाते सुना देता था जिससे कई प्रकार के परिवारो, परिवेशो और उनसे उत्पन्न परेशानियों को मनपर लाद कर विद्यालय आने वाले छात्र-छात्राओ को अपने अवांछित पूर्व सदर्भों से काट कर शिक्षा को ग्रहण करने मे सहायता होती थी। कितनी मनोवैज्ञानिक सच्चाई थी उक्त परिपाटी मे!

हास्य, विनोद, व्यग्य, हास-परिहास, जो भी हो हमारे जीवन की विसगतियों से उपजता है। इन विसगतियो के क्षेत्र और रूप अगणित होते हैं। स्थूल रूप मे व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन की विसगतियो के दो प्रकार माने जा सकते हैं। व्यक्तिगत जीवन की विसगति के दो भेद होते हैं—साधारण व्यक्ति के जीवन की विसगति और असाधारण व्यक्ति के जीवन की विसगति। यदि कोई ककालवत् काया वाला, साधारण व्यक्ति खुले आम यह घोषित करने लगे कि शक्ति मे वह बेजोड है तो उसकी समझ और सच्चाई के बीच की विसगति को कोई भी साधारण व्यक्ति चार लातो और दो घूँसों की सहायता से तोड सकता है परन्तु यदि किसी देश की जनता मे बदनाम, सर्वोच्च शासक यह मानने लगे कि वह जनता का हृदय सम्राट और जनता मे बेहद लोकप्रिय है तो आप सच्चाई और उसकी धारणा के बीच की विसगति को कैसे दूर करेंगे? ऐसी सकट की स्थिति मे व्यग्य ही हमारी परम सहायता करता है। कहते हैं, किसी यूनानी तानाशाह को यह भ्रम हुवा था कि उसकी सत्ता दुनिया मे सबसे अधिक जनता की हितकारिणी है और वह दुनिया के सभी शासको मे अधिक जनप्रिय शासक है। एक बार उसके पास लोगो ने शिकायत की कि उसके चित्र जिस पर छपे हैं वे डाक–टिकट लिफाफो पर ठीक से चिपकते नही। उसने डाकविभाग के सर्वोच्च अधिकारी को बुलाकर उक्त टिकटो के पीछे सर्वोत्तम गोद लगाने की आज्ञा दी। फिर कुछ दिनो के बाद वही शिकायत शासक के पास पहुँची तो वह आग बबूला हो उठा। उसने सम्बन्धित अधिकारी को बुलाकर जबर्दस्त डाट पिलायी। तब उस अधिकारी ने नतमस्तक होकर अपनी सफाई मे केवल यही कहा – 'महाशय, मेरा इसमे कोई दोष नही है। मैंने दुनिया की सबसे अच्छी गोद आपकी तस्वीर वाले टिकटो के पीछे लगवायी है परन्तु लोग गलत बाजूपर थूँक कर टिकट चिपकाने लगते हैं तो गोद क्या करगी?' उक्त अधिकारी के वक्तव्य मे मन्दश फूल-से कोमल शब्दो मे वज्र-सा कठोर व्यग्य छिपा था। एव ऐसी भयावह सच्चाई का उद्घाटन उन शब्दो मे था कि शासक के लिए आत्मग्लानि

के कारण चुल्लूभर पानी म डूब मरने के सिवा चारा ही न था। तो यह है व्यंग्य की शक्ति। यह बात अलग है कि उस अधिकारी का क्या हुआ? यह सोचना भी बेकार है कि उस शासक ने आत्मशोध किया या नहीं। क्योंकि व्यंग्य सोद्देश्य होकर भी मा फलेषु कदाचन का कामी होता है। व्यंग्य का उद्देश्य भ्रम को तोड़ना, विसंगति से उत्पन्न अवांछित स्थिति का बोध कराना और प्रकारान्तर से सच्चाई से साक्षात्कार कराना ही होता है। इसके आगे उससे कुछ न हो सकता है न वह भी होने की आस को पालता है।

सामूहिक जीवन की विसंगतियां धर्म, राजनीति आदि के क्षेत्र मे उत्पन्न होती है। यदि कोई धर्म अपने अनुयायियो को धर्मग्रन्थ की पुरानी पड़ गयी आज्ञाओं से बाहर जाने की तनिक भी अनुमति न देता हो और फिर भी वह अपने को दुनिया का सर्वश्रेष्ठ धर्म होने का फतवा देता हो तो यह भी एक विसंगति है। यदि कोई राज नीतिक पक्ष अपने शासन-काल मे जनता के जीवन को असह्य से असह्यतर बनाकर भी खुद को एक मात्र जनहितैषी पक्ष मानता हो तो यह भी एक विसंगति है। ऐसी सामूहिकता की विसंगतियो का बोध साहित्य और कला से ही सभव हो सकता है। यही काम हिन्दी का नया साहित्य, और उसम भी कविता करती आयी है।

हास्य विनोद और व्यंग्य म एक विशेष अन्तर होता है। हास्य विनोद सुखद होता है जबकि व्यंग्य से सुख की अनुभूति नहीं होती। यदि श्रेष्ठ व्यंग्य को पढ़कर कुछ अनुभव होना ही हो तो समाधान का अनुभव हो सकता है। यदि राजनीतिक और सामाजिक व्यंग्य को पढ़कर किसी को आनन्द का अनुभव होता ही हो तो वह अभिव्यक्ति का आनन्द हो सकता है। जो मैं नहीं कह सका था उसे औरो से कहते सुन कर होने वाला आनन्द एक भावक की आत्मनिष्ठ अनुभूति है भावानुभूति है। हास्य विनोद म यही अनुभूति विषय निष्ठ होती है। यदि कोई यह चुटकुला सुनाये कि एक सज्जन से प्रात म ही उनकी श्रीमती जी ने पूछा—क्याजी, रात मे ढढ के करीब अपने बेडरूम म धड़ाम् की कसी आवाज आयी?' उक्त श्रीमान् ने उत्तर दिया— मेरी लुगी फर्श पर गिरी थी। पत्नी ने आश्चर्य से पूछा—'लुगी की ऐसी आवाज? श्रीमान् ने बात साफ की—'लुगी म मैं जो था।' तो हँसी तो आती है परन्तु वह अकलुष होती है। किसी पर व्यंग्य नहीं। किसी का उपहास नहीं। किसी की ठट्ठा मसखरी नहीं। किसी की खिल्ली या मजाक उड़ाना नहीं। यह हास्य का सौम्यतम रूप होता है। सर्वग्राह्य रूप होता है। यदि लुगी म लिपटे हुए को मुसलमान जाट सरदार या फिर पठान कहो तो उसके सर्वग्राह्य होने म किंचित् बाधा उत्पन्न हो जाती है क्योंकि उक्त विशुद्ध हास्य विनोद के प्रसंग से किसी जाति विशेष को जोड़ने से उससे मिलने वाला सुख या आनन्द एक क्षीण सी ही सही विषाद की सीमा मे घिर जाता है।

व्यंग्य के विचार के प्रसंग में यह भी एक विशेषोल्लेखनीय बात होती है कि व्यंग्य करने वाला स्वयं को उससे कुछ अधिक चतुर समझता है जिसे वह अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाता है। ढकोसलेबाज और काइयाँ लोगों की पोल खोलने वाला उनसे अधिक ढकोसलेबाज और काइयाँ हो यह अनावश्यक है। यदि वह उनके वास्तविक रूपों को जानने-समझने योग्य चतुर हो तो काम चल जाता है। इधर जो व्यंग्य का सबसे प्रबल स्वर उभरा है, उसका लक्ष्य राजनीति रहा है। राजनीति और राजनेताओं पर व्यंग्य करना इसलिए सरल होता है कि दोनों घोषणा-जीवी होते हैं और व्यंग्यकार वास्तविकताओं में पलता है। वास्तविकताएँ घोषणाएं एक-दूसरे से कैसी विसंवादी होती हैं, यह जानना किसी भारी दिमागी कसरत की अपेक्षा रखने वाला काम नहीं होता।

'वहाँ बंजर मैदान
कंकालों की नुमाइश कर रहे थे
गोदाम अनाज से भरे पड़े थे और लोग
भूखों मर रहे थे'

(स 118)

जैसी पंक्तियां लिखने के लिए किसी असाधारण प्रतिभा की आवश्यकता नहीं होती। यदि कोई कवि अपने समय की स्थितियों को सही सन्दर्भों में समझकर जीता है तो अनायास ही उसकी रचनाओं में, उसके समकालीन जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाली शक्ति की चर्चा होनी ही है। ऐसी शक्तियाँ युग-युग में अलग-अलग होती हैं। धूमिल के समय राजनीति ऐसी शक्ति थी इसीलिए उसकी कविताओं में उसी के बारे में बहुत कुछ लिखा गया। यदि कोई कवि अपने युग के मानस की युगीन समस्याओं की अपेक्षा करके कुछ अलग गाने लिखने लगे तो उसे श्रीकान्त वर्मा के इन शब्दों में फटकार पड़ती है—

'भेड़ियों के कोरस की तमाच्छन्न अन्ध-रात्रि।
मनुष्य के अन्दर
एक सर्दी
सो रही है—
मगर इससे क्या!
वसु-धारा सोये सामानों में
जागते मसान
बो रही है।

अन्धकार में सबके सब
बिल्लियों की तरह
लड़ रहे हैं
× × ×
बरस रहा है अन्धकार!
मगर उल्लू के पट्ठे
स्त्रिया मरिभाऊ कविताएँ
लिख रहे हैं।

(माया दर्पण पृ 144, 44, 43)

वैसे व्यंग्यकार कवि हो या नाटककार, कहानीकार हो या उपन्यासकार, अपने समय की व्यवस्था पर व्यंग्य करने का अधिकारी अवश्य होता है परन्तु उस व्यवस्था को बदलने की शक्ति उसमें हो नहीं सकती। इसका दोष उसमें नहीं होता क्योंकि घृणित व्यवस्था की सुन्दर व्यवस्था में बदलने के लिए उन साधनों की विकृतियों को ठीक करना चाहिए जिनसे व्यवस्था स्थापित होनी है और बनायी रखी जा सकती है। किसी भीषण बीमारी से मुक्ति के लिए बीमार को ठीक होना आवश्यक होता है न कि डाक्टर को। डाक्टर बीमारी को पहचान कर इलाज बता सकता है परन्तु स्वयं दवाइयों का सेवन करके बीमार की बीमारी को भगा नहीं सकता। व्यंग्यकारों और राजनेताओं के बीच इसी तरह का चिकित्सक और बीमार का सम्बन्ध होता है। इसमें व्यंग्यकार स्वयं को हारा हुआ अनुभव करता हुआ भी स्वयं को व्यंग्य करने से विमुख नहीं कर सकता। व्यंग्य करने वाला कवि राजनेता और व्यवस्था की अपरिवर्तनीयता के एहसास से उत्पन्न कवि मन के क्षोभ को अंकित करते हुए श्रीकान्त वर्मा ने लिखा—

'आत्माएँ
राजनीतिज्ञों की
बिल्लियों की तरह
मरी पड़ी हैं
सारी पृथ्वी से
उठती है

सडांध!
कोई भी जगह नहीं रही
रहने के लायक
न मैं आत्महत्या
कर सकता हूँ
न औरों का खून!

न मैं तुमको जख्मी
कर सकता हूँ
न तुम मुझे
निरस्त्र !'

अपने समय की व्यवस्था को बदल सकने में स्वयं को असमर्थ अनुभव करना नये कवियों का स्वभाव होता है। फिर भी वे खुद को व्यवस्था के विरोध में और कविता को विपक्ष में रखने का साहस करते हैं। और विपक्ष की स्वीकृत भूमिका, व्यवस्था के पक्षधरों की तीखी आलोचना, निंदा, उपहास करने की, उन पर व्यंग्यपूर्ण कटाक्ष करने की, निष्ठा के साथ निभाते रहते हैं। धूमिल तो ऐसे कवियों का सिरमौर था। धूमिल के शब्दों में अपनी असहायता-असमर्थता का बोध उतना मुखर नहीं हुआ जितना अपने समय की व्यवस्था के विरोध में आक्रोश उभरता गया। एक से-एक कटु व्यंग्योक्तियां उसकी कविताओं में भरी पड़ी हैं। कविता संकलनों के हर पृष्ठ पर एकाध व्यंग्योक्ति तो अवश्य ढूंढी जा सकती है। हर कविता में कुछ व्यंग्य-भाव अनिवार्यतः आया ही है। कुछ पूरी-की-पूरी कविताएँ ही व्यंग्य के रूप में लिखी गयी हैं। आगामी कुछ पृष्ठों में धूमिल के इसी व्यंग्य के स्वरूप को उसी की कविताओं के आधार पर समझने का प्रयास किया जा सकता है।

स्व० धूमिल की कविताओं में सबसे अधिक राजनीतिक व्यंग्य ही उभरा है। चाहे राजनीतिक हो या सामाजिक, समस्याओं से सम्बन्धित व्यंग्य कभी भी चिरजीवी नहीं होता। समस्याएँ बदल जाती हैं या फिर खत्म भी हो जाती हैं। वैसे भी राजनीति को वारांगना कहा जाता है। चंचलता उसका स्थायीभाव होता है। पत्रकारिता में इसे उछाला जाता है। पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाले राजनीतिक व्यंग्य, लेख हो या चित्र, तात्कालिकता का दोष उनमें अनिवार्यतः जुड़ा ही रहता है। समकालीन राजनीति पर लिखी गयी व्यंग्य कविता कुछ अधिक दीर्घजीविनी होती है। इसका कारण होता है—व्यंग्य-लेख और चित्र व्यक्ति-निष्ठ होते हैं जबकि कविताएँ वर्ग-निष्ठ होती हैं। व्यक्तियों की महत्ता क्षणिक होती है परन्तु वर्ग की महत्ता लम्बी खिंचती है। यही कारण है कि धूमिल ही नहीं बल्कि और भी नये कवियों ने लिखे व्यंग्यों की सप्राणता आज भी नहीं आहत हुई है।

धूमिल के व्यंग्य-स्वर में बेहद तल्खी का होना हमने पिछले अध्याय के किसी प्रसंग में देखा है। इस तल्खी का कारण भी स्पष्ट किया है। वस्तुतः व्यंग्यकार के मन में व्यंग्य पात्र के प्रति अनुदारता, सकीर्णता, अनास्था, विद्वेष-वृत्ति और प्रबल विरोध की भावना रहती है। वह यह सोचकर भी लिखता है कि औरों को भी अपने विचारों के साँचे में ढाल सकेगा परन्तु उसका यह प्रयास शायद ही कभी सफल होता रहा है। उसकी असफलता उसकी ईमानदार प्रतिरोध भावना को बाधा नहीं

पहुँचाती। रसिक पाठक या नावन जो भी वह लीजिए, कविताएँ पढकर कवि के सद्भाव के प्रति कभी आशंकित नहीं होता। यदि किसी के व्यंग्य-काव्य को पढकर कवि की सम्भावना के प्रति पाठकों के मन में आशंका उपजे तो उस कवि कहने की अपेक्षा किसी मत या राजनीतिक धार्मिक दर्शन का प्रचारक कहना होगा। यह सौभाग्य है कि स्व० धूमिल की व्यंग्य कविताओं में इस प्रकार की आशंका के लिए कोई भी गुंजाइश नहीं है। उसने अपने व्यंग्य का लक्ष्य हर उस वस्तु को बनाया है जिसे वह ठीक नहीं मानता था। अध्यापक, नेता युवक-युवतियाँ शहरी, देहाती आदि, कोई भी उसके व्यंग्य की चपेट में आने से नहीं बचा है। सामाजिक वर्ग समग्र रूप में समाज जिसे उसने जनता कहा है और व्यक्ति के गुणावगुण को भी उसने व्यंग्य-पात्र माना है। जीवन मूल्यों का नैतिक मान्यताओं का गुणों सद्गुणों का खोखलापन बताने में वह तनिक भी नहीं झिझका है। समाज के भीतर व्याप्त विकृतियों का भंडाफोड़ करने से वह कभी नहीं चूका है। यह सब करते हुए उसका स्वर कभी आरोही और कभी अवरोही बनता है। कभी कठोर आक्रामक रूप वह धारण करता है तो कभी नम्र व्यंग्य में भी काम लेता है। कभी व्यंग्य का नश्तर चलाता है तो कभी वह चिकोटियाँ काटता है। उसके ऐसे ही विविध व्यंग्य रूपों की झलकी देने के लिए मैंने इस अध्याय के प्रारंभ में दो उद्धरणों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अब तक के विवेचन से यह बात स्पष्ट होती है कि स्व० धूमिल की व्यंग्य-कविताओं में विविध ढंग, विविध प्रसंग और विविध विषयगत सन्दर्भ मिलते हैं। उसके व्यंग्य की इस विविधता की झाँकी कुछ इस प्रकार दी जा सकती है—

जैसा कि इससे पहले कई बार कह चुका हूँ स्व० धूमिल की कविता में राजनीतिक बोध सर्वोपरि है, यही बात उसके व्यंग्य के लक्ष्य पर भी ठीक घटित होती है। वह इस देश की संसद समाजवाद आजादी चुनाव नेता और राजनीति सभी पर व्यंग्य करता— (लिखता) था। इतना ही क्या उसने स्वयं देश के बारे में लिखा—

> हिमालय से लेकर हिन्द महासागर तक
> फैला हुआ
> जली हुई मिट्टी का ढेर है
> जहाँ हर तीसरा जुबान का मतलब—
> नफरत है।
> साजिश है।
> अंधेर है।
> यह मेरा देश है।

(स० 114)

अनास्था के हल्के से संकेत से उभरता हुआ। उसका व्यंग्य अपने ही देश के बारे में ये शब्द लिखकर चरम का स्पर्श करता दिखाई देता है—

मेरे सामने वही चिर परिचित अन्धकार है
संशय की अनिश्चियग्रस्त टेढ़ी मुद्राएँ हैं
हर तरफ
शब्दवेधी सन्नाटा है।
दरिद्र की व्यथा की तरह
उचाट और कूंथता हुआ। घृणा में
डूबा हुआ सारा का सारा देश
पहले की ही तरह आज भी
मेरा कारागार है।

(स 141)

'अरुण यह मधुमय देश हमारा' लिखने वाले स्व जयशंकर प्रसाद के और देश को 'जली हुई मिट्टी का ढेर' और 'अपना कैदखाना' समझने वाले धूमिल के बीच ऐसा कौनसा हादसा (दुर्घटना) हुआ कि जिसने इस देश का नक्शा और देशवासियों का चरित्र ही बदल दिया ? देश को दुर्दशा की खाई में ढकेल दिया ? यहां की जलवायु, जंगल-नदियां, पहाड़ियां, खग-मृग और चौपायों में तो कोई परिवर्तन नहीं हुआ तो फिर दो पैरों वाले मनुष्य के चरित्र में ही ऐसा अन्तर क्यों आया ? इसका एक ही शब्द में उत्तर देना हो तो कह लीजिए 'राजनीति' ! आज़ादी का सूरज खून में लथपथ था परन्तु शत्रुओं के नहीं पड़ौसियों के, भाइयों के, दोस्तों के खून से सना सा था। और इस कुगम और जघन्य कर्म का एकमात्र तात्त्विक आधार था—धर्म-सम्प्रदाय ! आज़ादी के बाद की राजनीति ने इस देश को और बर्बाद कर डाला। जनतंत्र में यथा प्रजा तथा राजा का सिद्धान्त गढ़ लो या चाहे पुराने विश्वास से चिपके रह कर यथा राजा तथा प्रजा कह लो, कोई फर्क नहीं पड़ेगा। दोनों एक ही पतित, दिशा-भ्रष्ट और जीवन-मूल्यों से शून्य सिक्के की दो बाजुएँ हैं। कम-से-कम धूमिल की कविताओं में चित्रित जनता और राजनेताओं के चरित्रों का देखकर तो यही कहना पड़ता है। जनता और नेता के बीच में जनतंत्र ने चुनावों की व्यवस्था को कायम किया और ये चुनाव अनेक समस्याओं की जड़ सिद्ध हुए। चुनावों में देशभक्त अवश्य हिस्सा लेते हैं परन्तु देशभक्तों की स्व धूमिल की धारणा अनोखी है—

हर तरफ धुआं है
हर तरफ कुहासा है
जो दांतों और दलदलों का दलाल है

वही देशभक्त है

(स 115)

और देश के करीब होने की कवि की शर्त भी अनोखी है—

हर तरफ कुआँ है
हर तरफ खाई है
यहाँ सिर्फ, वह आदमी, देश के करीब है
जो या तो मूर्ख है
या फिर गरीब है

(स 116)

लेकिन मूर्खों और गरीबों को देश के करीब केवल इसलिए पाया जाता है कि उनके माध्यम से उनकी सहायता से चालाक राजनेता चुनावों का तमाशा खड़ा करके अपना उल्लू सीधा कर सकते हैं। चुनावों के मैदान में उतरने वाले राजनेताओं के चरित्र और व्यवहार पर कवि का कटाक्ष, व्यंग्य बहुत वर्षों तक आज की राजनीति का समूचा चरित्र नहीं बदलता, अपनी गहरी सार्थकता बनाए रखने में समर्थ है। कवि के शब्दों में—

सब कुछ अब धीरे-धीरे खुलने लगा है
मत वर्षा के इस दादुर-शोर में
मैंने देखा हर तरफ
रंग-बिरंगे झंडे फहरा रहे हैं
गिरगिट की तरह रंग बदलते हुए
गुट से गुट टकरा रहे हैं
वे एक दूसरे से दाँत किल-किल कर रहे हैं
एक दूसरे को दुर-दुर बिल-बिल कर रहे हैं
हर तरफ तरह-तरह के जंतु हैं
श्रीमान किन्तु हैं
मिस्टर परन्तु हैं
कुछ रोगी हैं
कुछ भोगी हैं
कुछ हिजड़े हैं
कुछ जोगी हैं
तिजारियों के प्रशिक्षित दलाल हैं
आँखों के अंधे हैं
घर के कंगाल हैं

गूंगे हैं
बहरे हैं
उथले हैं, गहरे हैं
गिरते हुए लोग हैं
अकड़ते हुए लोग हैं
भागते हुए लोग हैं
पकड़ते हुए लोग हैं
गरज यह कि तरह तरह के लोग हैं (स 129–130)

ऐसे तरह तरह के लोग मिल कर यहाँ का जनतंत्र चलाते हैं। जनतंत्र की आत्मा संसद का निर्माण करते हैं जो आत्मा अपने वजूद में आने के बाद जनता की शिकायतों पर बहरी, अत्याचारों पर अंधी और समस्याओं पर गूंगी बनकर 'संविधान' से मिली हुई सुविधाओं को भोगती रहती है। वे निर्वाचित लोग एक ऐसे आदर्श जनतंत्र का निर्माण करते हैं जो अपनी सम-समान दृष्टि के लिए विख्यात है। ऐसा जनतंत्र यहाँ बनता है जिसमें हरामखोरों को और श्रमजीवियों को समान अवसर उपलब्ध होते हैं। ऐसा जनतंत्र जो अपनी जनहित कारिणी—योजनाओं नीतियों के आकर्षक उद्घोषों पर जीवित रहता है जैसे खेल तमाशा दिखाने वाला मदारी अपनी आकर्षक भाषा शैली से भीड़ को बाँध रखता है और उसी से जीवित रहने का आधार खोजा करता है। कवि के शब्द हैं—

यहाँ
ऐसा जनतंत्र है जिसमें
जिन्दा रहने के लिए
घोड़े और घास को
एक जैसी छूट है
कैसी विडम्बना है
कैसा झूठ है
दर असल अपने यहाँ
जनतंत्र
एक ऐसा तमाशा है
जिसकी जान
मदारी की भाषा है
(स 115)

उस मदारी की भाषा का सबसे आकर्षक शब्द है 'समाजवाद'। समाजवाद के सब्जबाग दिखाकर यहाँ के राजनेताओं ने आजादी के 32 वर्षों तक जनसाधारण

को उल्लू बनाए रखा है और आज भी उनकी इस चालाकी के चक्कर म यहाँ की जनता बराबर बँधी हुई है। हर श्रेष्ठ वैचारिक मूल्य को प्रसारित करने का आभास उत्पन्न करके उसके हनन करने म दुनिया का कोई समाज हमारे सामने ठहर नही सकता। समाजवाद की जैसी दुर्गत हमने हमारे शासको ने बना डाली है उसके लिए समाजवाद के चिन्तन और क्रियान्वयन क इतिहास म कोई मिसाल नही मिल सकती। धूमिल इससे बहुत ही अच्छा परिचित था। समाजवाद के नाम पर चली यहाँ की आर्थिक नीतियो का प्रभाव शोषक पूजी-पतियो के अपरिमित लाभ और निधनो के अकल्पित शोषण मे प्रकट हुआ। ऐसा असली जामा समाजवादी चिन्तन को भला कौन पहना सकता है?. एक लम्बा प्रबध लिखकर भी इस विसगति विपरीतता को समझाया नही जा सकता। आश्चर्य तो यही है कि धूमिल के व्यग्य की मात्र चार पक्तियो ने उक्त विसगति को उजागर कर दिया। लिखा है—

> मगर मैं जानता हूँ कि मेरे देश का समाजवाद
> मालगोदाम मे लटकी हुई
> उन बाल्टियो की तरह है जिस पर आग लिखा है
> और उसम बालू और पानी भरा है
>
> (स० 139)

इस प्रकार की व्यवस्था का खडी करने और बनाए रखने म केवल शासको का ही षडयत्र है यह बात नही है। वस्तुत इस प्रकार की गर्ह्य स्थिति उत्पन्न करने वाल वे कायर लोग है जिनके पास तीसरी आँख अथवा का ज्ञान है और जो अपनी तीसरी आँख की प्रचड शक्ति का प्रयोग सडी-गली व्यवस्था का भस्मसात करके नयी व्यवस्था को लाने का माग प्रशस्त करने की अपेक्षा थैलीशाहो की तिजोरियो की देख रेख सुरक्षा करने के लिए कर रहे है। य डरपोक इसलिए है कि अपनी क्षुद्र टुच्ची सुविधाओ को त्याग नही पात। य अपनी सुविधाओ को पूँजीवादी हित से सम्बद्ध मानकर उसी के तलुवे चाटन म लगे रहत है • पीडितो के प्रति इनके अन्त करण म कोई सहानुभूति नही है तो इनस समानुभूति की अपेक्षा क्यो कर रखी जा सकती है। इस तथाकथित बुद्धिजीवी वग पर धूमिल ने जो व्यग्य किया है ममस्पर्शी बन पडा है। उसी के शब्दो म—

> नही—अपना कई हमदद
> यहाँ नही है। मैंने एक एक को
> परख लिया है।
> मैंने हरेक को आवाज दी है।
> हरेक का दरवाजा खटखटाया है
> मगर बेकार । मैंने जिसकी पूँछ

उठाई है उसको मादा
पाया है।
वे सबके सब तिजोरियों के
दुभाषिये हैं।
वे वकील हैं। वैज्ञानिक हैं।
अध्यापक हैं। नेता हैं। दार्शनिक
हैं। लेखक हैं। कवि हैं। कलाकार हैं।
यानि कि—
कानून की भाषा बोलता हुआ
अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है।

(स० 138–139)

ऐसे ठगों और पिंडारियों के गिरोहों में जीवन-मूल्यों का ह्रास होकर भी चारित्रिक पतन की गाड़ी रुकती तो भी बड़ी बात होती परन्तु उन मूल्यों के विकृत और विपरीत रूपों की प्रतिष्ठा बढ़ी है, इससे भारी दुर्भाग्य, किसी जाति का और क्या हो सकता है ? ऐसे जीवन-मूल्यों के संकट से भी धूमिल बहुत ही अच्छा परिचित था। इस मूल्यगत ह्रास पर कटु व्यंग्य करते हुए उसने लिखा है—

मैंने अहिंसा को
एक सत्तारूढ़ शब्द का गला काटते हुए देखा
मैंने ईमानदारी को अपनी चोर जेबें
भरते हुए देखा
मैंने विवेक को
चापलूसों के तलवे चाटते देखा ।

(स० 131)

जहाँ किसी जाति का विवेक ही भ्रष्ट हो गया हो तो—

यहाँ सब कुछ सदाचार की तरह सपाट
और ईमानदारी की तरह असफल है।

(कल० 58)

तो क्या आश्चर्य ! और उस जाति में—
'क्या कहा – दया ?' लेकिन याद क्यों नहीं करते—
दया का एक रुख हाय ! यह भी है कि जो जाति
ठंड के माकूल दिनों में आदमी का खून
खींच लेती है, गर्मी के 'मौसम' में

पोसरा चलाती है।'

(कल० 46)

की स्थिति उत्पन्न हो तो क्या ताज्जुब ? ऐसे पतित और विकृत जीवन मूल्यों के समाज को देखकर कवि जब क्षुब्ध हो जाता है तो वह अनुभव करता है— वह एक ऐसे—शर्मनाक दौर से गुजर रहा है जिसमें किसी से किसी के झुलसे चेहरे या खाली पेट या थरथराती टाँगों के प्रति कोई 'सहानुभूति नहीं है। जिसमें भाईचारा भुलाया गया है 'आत्मा की सरलता का खून किया गया है, सहानुभूति और स्नेह-प्यार को उसे छलावे के रूप में प्रयुक्त किया जाता है जिसकी आड़ में एक आदमी दूसरे को धोखे से अकेले में मार डालता है। निष्कर्षतः कवि लिख जाता है—

गरज यह कि अपराध
अपने यहाँ एक ऐसा सदाबहार फूल है
जो आत्मीयता की खाद पर
लालभड़क फूलता है

(स 119)

स्व धूमिल ने उक्त सामाजिक पतन की जिम्मेदारी का भार 'जनता' के कंधे पर भी रख दिया है। जनता के इस प्रतिनिधि ने जनता के दोषों को दिखाने में भी किसी भी प्रकार की आनाकानी नहीं की है कोर कसर उठा नहीं रखी है। जनता के दोषों को दिखाने में भी उसके वक्तव्यों में व्यंग्य का वही तीखापन है जो अवसरवादी राजनेताओं के हथकंडों के बारे में या दोगले चरित्र के वर्णन के प्रसंग में दिखाई देता है। जनता शब्द को परिभाषित करते हुए ही वह कहता है—

जनता क्या है ?
एक शब्द सिर्फ एक शब्द है
कुहरा और कीचड़ और काँच से
बना हुआ ।
एक भेड़ है
जो दूसरों की ठंड के लिए
अपनी पीठ पर
ऊन की फसल ढो रही है

(स 114)

और

(जनता) एक पेड़ है
जो ढलान पर

हर आती जाती हवा की जुबान में
हाँ ऽ ऽ हाँ ऽ ऽ करता है
क्योंकि अपनी हरियाली से डरता है
(स 114)

और भी
गाँवों के गन्दे पनालों से लेकर
शहर के शिवालों तक फैली हुई
'कथाकलि' की एक अमूर्त मुद्रा है
यह जनता"
(स 114)

जीवन-मूल्यों का विरोध करने वाले, धिक्कारने वाले लोग तर्क की दृष्टि से कैसे बौने होते हैं ? इस पर टिप्पणी करते हुये धूमिल लिखता है —

कई बौखलाए हुए मेढक
कुएँ की काई लगी दीवाल पर
चढ़ गए,
और सूरज को धिक्कारने लगे
—व्यर्थ ही प्रकाश की बड़ाई में बकता है
सूरज कितना मजबूर है
कि हर चीज पर एक-सा चमकता है ।
(कल० 28)

स्व धूमिल की व्यंग्य-दृष्टि शिक्षितों के गिरोहों और निरीह जनता तक ही सीमित नहीं थी । उसने और भी कई विषय अपने व्यंग्य के लक्ष्य के रूप में चुने थे । जैसे देहात का समाज, कस्बा और नगर-शहर-का समाज, युवक और युवतियाँ आदि । कुछ ही बानगियों के आधार पर मैं अपनी बात को स्पष्ट करना चाहूँगा । शहर में सबसे अधिक अभाव यदि किसी भाव का होता है तो वह होती है आत्मीयता, स्नेह, प्यार, कुछ भी कह लो । इसके कारण एक ऐसा समाज वहाँ रहने लगता है जो हद दर्जे का मौकापरस्त और पशुतुल्य संवेदनाशून्य होता है । शहरी समाज की सभ्यता की निर्ममता पर चोट करने के लिए स्व धूमिल की लिखी ये पंक्तियाँ पाठकों को कठोर वास्तविकता के कारण चौंका देती हैं—

शहर की समूची पशुता के खिलाफ
गलियों में नंगी घूमती हुई

पागल औरत के 'गभिन पेट' की तरह
सड़क के पिछले हिस्से में
छाया रहेगा पीला अंधकार

(स 14)

एक विक्षिप्त पागल औरत को भी अपनी पाशविक वासना का शिकार बनाना शहर की सभ्यता का ही लक्षण हो सकता है। वैसे यह अमानवीयता सवन्दनशून्यता क्रूरता देहात में भी अलभ्य है, यह कहना विश्वास के साथ कहना शायद आसान नहीं। समूची सामाजिक व्यवस्था में ही एक इस तरह की शब्दातीत विकृति व्याप गयी है कि इनमें कुछ भी संभव हो सकता है। इस जीवन मूल्यहीन व्यवस्था का वर्णन धूमिल के जैसा समर्थ कवि ही कर सकता है। निम्नलिखित शब्दों की सच्चाई अन्तःकरण को बींधने वाली है—

एक अजीब सी प्यार भरी गुर्राहट
जैसे कोई मादा भेड़िया
अपने छौने को दूध पिला रही है और
साथ ही किसी मेमने का सिर चबा रही है

(सं 122)

एसी सामाजिक स्थिति में किसी भी तरह का दुर्व्यवहार कल्पनातीत नहीं हो सकता। व्यवहार की कोई असंगति अतर्क्य नहीं हो सकती। शहरी जीवन की दो और असंगतियों पर किये गये कटाक्ष प्रस्तुत हैं—

पूरी शराब पीकर मैंने उस बोतल को
शौचालय में डाल दिया है
जिस पर लिखा है—
For Defence Services Only
यही मेरी जिंदगी का लब्बोलुबाब है

(स 79)

और

(हर अच्छे नागरिक की तरह
खतरे का सायरन बजते ही
मैंने अपनी खिड़कियों के पर्दे गिरा दिये हैं
खतरा—इन—दिनों—
बाहर की नहीं बल्कि भीतर की रोशनी से है)

(स 79)

शहर की तुलना मे गाँव की जीवन-मूल्यो मे निष्ठा कुछ अधिक होती है। पारंपरिक मूल्यों को सुरक्षित रखने के प्रति ग्रामीणों का कुछ अधिक झुकाव होता है। परन्तु देहाती लोगों के जीवन की एक कुरूप वास्तविकता भी होती है जिसमें धूमिल के जैसा कवि ही झाँक सकता है। और उस वास्तविकता के दुष्प्रभावों को आँक सकता है। किसी भी तरह की भयावह स्थिति प्रतिरोध करने के लिए ग्रामीण जनता एक मंच पर आ नही सकती। उसमें संगठित होकर दुःस्थिति का सामना करने का अभाव होता है। वह हर संकट को नियति की इच्छा जान कर झेल जाती है। उसी पर व्यंग्य करते हुवे कवि ने लिखा है—

लोग बिलबिला रहे हैं (पेड़ों को नंगा करते हुए)
पत्ते और छाल
खा रहे हैं
मर रहे हैं, दान
कर रहे हैं
जलसों-जुलसों मे भीड़ की पूरी ईमानदारी से
हिस्सा ले रहे हैं और
अकाल को सोहर की तरह गा रहे हैं।
झुलसे हुवे चेहरों पर कोई चेतावनी नहीं है।
(स 18–19)

स्व धूमिल ने अपनी कविताओं मे देहाती जीवन पर बहुत कुछ लिखा है परन्तु उसको व्यंग्य के अन्तर्गत विवेचित करना अनावश्यक विस्तार देना है। देहात और शहर के बीच होता है कस्बा। कस्बा देहाती और शहरी जीवन के अभिशापों को इकट्ठे ढोता है। उसके जीवन का खाका खींचते हुवे धूमिल ने लिखा है—

मैंने अक्सर उन्हें
उन मकानों के बारे में बतलाया है
जिनकी खिड़की
गली झाँकते चेहरों को बेवजह बदनाम करती है
जिनके सँडास-घरों मे खाँसी
किवाड़ो का काम करती है
जहाँ बूढ़े
खाना खा चुकने के बाद अंधे हो जाते हैं
जवान लड़कियाँ अंधेरा पकड़ लेती हैं
बच्चे फिल्मी गीतों पर अँगूठा चूसते हैं

> और नौजवान अपनी जिम्मेदारियाँ
> रोजगार-दफ्तरों को सौंपकर
> चूहों की नस्ल पर बहस करते हैं
>
> (स 55–56)

स्व धूमिल ऐसे समाज में जीने वाले व्यक्तियों के चरित्र के प्रति भी भ्रांतिपूर्ण विचार नहीं रखता था। वह जानता था कि ऐसे समाज में व्यक्ति की 'आदमीयता जले हुवे कागज की वह तस्वीर है, जो छूते ही राख हो जाएगी'। और यहाँ के व्यक्ति का चरित्र ऐसा तत्त्वशून्य, स्वाभिमानरहित और बेबुनियाद है कि कोई भी बड़ी शक्ति उसे अपने इशारों पर नचा सकती है। कवि के शब्दों मे—

> लदन और न्यूयार्क के घु डीदार तश्मो से
> डमरू की तरह बजता हुआ मेरा चरित्र
> अंगरेजी का 8 है।
>
> (स 28)

अपने इस तरह के चरित्र का बोध हो जाने पर, अपने चरित्र का दोगलापन अपनी ही आत्मा की आँखों के सामने स्पष्ट हो जाने पर कवि के मन की होने वाली अवस्था—

> 'वैसे यह सच है—
> जब
> सड़कों मे होता हूँ
> बहसो मे होता हूँ
> रह-रह कर चहकता हूँ,
> लेकिन हर बार वापस घर लौटकर
> कमरे के अपने एकान्त मे
> जूते से निकाले गये पाँव-सा
> महकता हूँ।'
>
> (स 25)

शब्दों मे वर्णित है।

स्व धूमिल के सशक्त व्यग्य की सर्वोपरि विशेषता यह है कि उसमें गहन सच्चाई होती है। निर्विवाद यथार्थ होता है। वस्तुत किसी भी युग मे अनावृत सत्य एक कटु व्यग्य के रूप में ही प्रकट होता रहा है। इस पृष्ठ तक देखे गये व्यग्य के धूमिल रचित काव्य के उद्धरणों में भी कठोर यथार्थ और व्यग्य ऐसे एकरूप होकर प्रकट हुवे हैं कि उन्हें एक दूसरे से अलग करना कठिन काम है। क्या सच्चाई

व्यंग्य का सहारा लेकर ही प्रकट हो सकती है ? नहीं, ऐसी बात नहीं। उसे तो बहुत ही सीधे-सादे ढंग से भी प्रकट किया जा सकता है। "हमारा परिवेश कई असंगतियों-विसंगतियों से भरा है। इसमें कुछ संगतियों-सुसंगतियों की खोज भी की जा सकती है। हमारे समाज में जीवन-मूल्यों के प्रति अनास्था दिखाई देती है। नैतिकता के मूल्यों का पालन करने वाला शायद ही कोई मिले।" जैसे सपाट वाक्यों से भी यथार्थ स्पष्ट हो सकता है परन्तु यह बहुत ही सीधी और सपाट बयानी शैली है जिसे शायद ही कोई पढ़ना-गुनना चाहेगा। इसी यथार्थ को आकर्षक शैली में कहने के लिए व्यंग्य का उपयोग किया जाता है। व्यंग्य, इस दृष्टि से व्यंजना शब्द-शक्ति के पास ठहरता है परन्तु व्यंजना और व्यंग्य में केवल अर्थगत आकर्षण की समानता छोड़ दी जाय तो दूसरी बहुत असमानताएँ होती हैं। सबसे बड़ा अन्तर दोनों में यही होता है कि व्यंजनाशक्ति अनास्था के साथ आस्था, पतन के साथ उत्थान, अंधेरे के साथ उजाले का भी वास्तविक शब्दांकन करने में सहायक होती है जब कि व्यंग्य की क्षमता ही जीवन के नकारात्मक मूल्यों-पहलुओं को उजागर करने में मदद करती है।

स्व. धूमिल ने अपने समय के जन-जीवन से ऐसे ही विषयों को चुना है जो चिन्ता-जनक समस्याओं को अपनी विकरालता में प्रस्तुत करते हैं, यह कहना भी बहुत सही नहीं होगा। उसकी कविताओं में कुछ नम व्यंग्य, चाहो तो उसे हास्य-विनोद मान कर चलो, भी दिखायी देते हैं। जैसे—

> पिकनिक से लौटी हुयी लड़कियाँ
> प्रेमगीतों के गरारे करती हैं
> सबसे अच्छे मस्तिष्क,
> आराम कुर्सी पर
> चित्त पड़े हैं।
>
> (कल 30)
>
> और
>
> तुम्हारी जेब में क्या है ? प्यार ?
> उसे बाहर गली में फेंक दो।
> यह दूसरे का घर है—
> और शहर की खुदान में
> तुम्हारी भाषा और उम्मीद के बीच
> वे काठ का एक टुकड़ा रख देंगे
> या फिर एक प्याली गर्म चाय—
> 'पियो जी बबोजी माराज !'
>
> (कल० 45)

और

सुनहरी किताब की जिल्द के ऊपर
पिता का डर है
और अन्दर
प्यार का खत है

(क्र० 54)

और

प्रेम में असफल छात्राएँ
अध्यापिकाएँ बन गयी हैं
और रिटायर्ड बूढ़े
सर्वोदयी

(क्र० 29)

इस तरह के कई चुटीले व्यंग्य भी धूमिल की कविताओं में मिल जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि तीखे-से तीखे व्यंग्य से लेकर चुटकियाँ लेने वाले व्यंग्य उसकी कविताओं में मिल जाते हैं। उसकी कविता का स्वर ही व्यंग्यात्मक है जिसके लिए उसका अपना जीवन और परिवेश कारणीभूत रहा है। धूमिल की कविताएँ पढ़कर उनसे प्रकट होने वाला व्यंग्य समझकर पाठकों को आनन्द की अनुभूति नहीं होती एक तरह की उद्विग्नता खीझ, आत्मग्लानि, असहायता और हताशा का अनुभव होने लगता है। जाने अनजाने यह लगता है कि कवि जिस सामाजिक विकृति की बात कर रहा है उस विकृति से हमारा भी कोई सम्बन्ध है। उसको उत्पन्न करने में न सही, उसे बनाए रखने में या फिर उसे बने रहने में सहायता पहुँचाने में ही सही हमारा भी योग है। कवि धूमिल की कटुतर और कटुतम व्यंग्योक्तियों को पढ़कर यदि हम कभी भ्रमवश आनंद युक्त हो भी जायें तो वह बेमानी होता है। एक घटना की मुझे याद आती है। इधर हाशिकोत्सव में हास परिहास की हरसंभव परम सीमा होती रहती है। लोग दूसरों को हँसाने और खुद भी हँसने के अवसरों की खोज में होते हैं। इसके लिए कई तरह के साज सजाए जाते हैं। कुछ लोग स्वांग रचकर मूढ़ों मूर्खों, लफंगों, लुच्चों इत्यादि के अभिनय करके लोगों को हँसाते हैं। कुछ लोग अश्लील और फूहड़ गानों को गा गा कर लोगों को हँसाते हैं। सबसे लोकप्रिय मार्ग है किसी की प्रेत यात्रा निकालना। प्रेत के रूप में किसी जीवित व्यक्ति को बाकायदा एक खटिया पर बाँध कर चार लोग उस खटिया को कंधे पर उठाकर श्मशान ले जाते हैं। पीछे-पीछे उस व्यक्ति की स्त्री का—पत्नी का—स्वांग रचने वाला स्त्री-वेशधारी पुरुष विलाप करता जाता है। प्रेत का स्वांग रचने वाला बीच-बीच में खटिया पर उठ बैठकर पत्नी को सांत्वना देने लगता है तो रास्ते पर इकट्ठे दर्शक हँस हँस कर लोट पोट हो जाते हैं। एक

बार मेरे देहात के पास के एक गाव मे ऐसा ही प्रसग देखा गया। प्रेत के रूप मे खटिया पर लेटने वाला व्यक्ति डटकर ताडी (एक विशेष प्रकार की शराब) पीकर नग-धडग होकर खटिया पर लेटा। भरी दो पहरी मे गाजेबाजे के साथ उसकी प्रेत-यात्रा शुरू हुई। थोडी दूर जाने पर वह खटिया पर छटपटाने लगा तो प्रेत-यात्रा मे चलने वाले दर्शक हँसने लगे। खटिया पर लेटा आदमी चिल्लाने लगा—'मुझे छोड दो। मैं जल रहा हूँ। मेरे जिस्म मे आग लगी है। दर्शकों मे से किसी ने कहा—'अबे, अभी तो स्मशान दूर है। अभी से चिता पर लेटने का सपना देख रहा है क्या ?' सब लोग ठहाके लगाकर हँस दिये। रास्तेभर म वह आदमी कई बार चीखा–चिल्लाया और हर बार उसके चीखने को प्रेत का अभिनय करने वाले का, लोगो को हसाने का, अनोखा प्रयास समझ कर लोग खूब हँसत रहे और मजा लेते रहे। आखिर कुछ घटो के बाद स्मशान पहुची वह प्रेत-यात्रा। तब तक 'प्रेत' शान्तिपूर्वक पडा था खटिया पर। स्मशानभूमि पर नकली चिता के पास खटिया रखी गयी और उस आदमी को खोला गया तो पाया गया कि वह वास्तव मे मर गया था। तब कही जाकर लोग समझे कि रास्तेभर का उसका छटपटाना लोगो को हँसाने के लिए किया गया अभिनय नही था बल्कि वह वास्तव मे उसका दुख-प्रदशन था। परन्तु तब जाकर समझने का क्या लाभ ! दुर्भाग्य से इन दिनो इस देश के उस व्यग्य-साहित्य के साथ भी कुछ वैसा ही सलूक हो रहा है जैसा उक्त प्रेत की छटपटाहट को देखकर उसके साथ हुआ था। उक्त साहित्य मे उभरी समस्याओं की सच्चाई और ईमानदारी को हम उसी हँसी मजाक मे ले रहे है जैसे कि उक्त प्रेतयात्रा के दर्शकों न तथाकथित प्रेत की चीख-चिल्लाहट और गुहार को लिया था ! परिणाम यह हो रहा है कि व्यग्य-साहित्य अपने निर्मम आघातों से सामाजिक विकृतियों, विसगतियो का हृतचेत बनाने की अपनी क्षमता-शक्ति को खोता जा रहा है।

व्यग्य या हास्य की भावना का एक साधारण-सा सिद्धान्त उक्त व्यग्य-साहित्य के शक्तिक्षय के पीछे निहित है। यदि किसी सर्कस या नाटक म जोकर या विदूषक अपनी किसी विशिष्ट भोंडी हरकत से दर्शकों को हँसाता है कि दर्शक उसकी उस हरकत पर दो या तीन बार तो हँस देते हैं परन्तु चौथी और उसके बाद की उसी तरह की हरकतो को देखकर ऊबने भी लगते हैं। कुछ यही हाल व्यग्य-साहित्य का हुआ है। व्यग्य के लिए उपयुक्त सामाजिक और राजनीतिक स्थितियाँ क्या उत्पन्न हुई कि व्यग्यकारों की भी 'दादुर शोर' समूचे साहित्य की तलैया से फूट पडा। कहानी, नाटक, उपन्यास, कविता, हर किसी से व्यग्य के स्वर फूटने लगे। परिणाम यह हुआ कि व्यग्य को आधुनिक साहित्य की स्थायी प्रवृत्ति मान कर लोग उसके बारे म विशेष रूप से सोचना अनावश्यक समझने लगे। हल्का-फुल्कापन, मनोरजन, चुटीले व्यग्य, हास-परिहास-उपहास और हास्य विनोद की बाढ-सी आयी। इससे लोगों

(पाठकों) के सामने यह सभ्रम उत्पन्न हुआ कि इन सब म सस्ता मनोरजन करने वाला साहित्य कौनसा है और गभीर व्यग्य करने वाला साहित्य कौनसा है। धूमिल, जो कि सवश्रेष्ठ व्यग्यकार था, हास्यकवियो के मेले मे खो गया-सा इसीलिए लगता है। मनोरजन और प्रबोधन के मनोरजक मार्ग (व्यग्य) का भेद समझ न सकने वालो की स्थिति ठीक उसी तरह दयनीय और सार्वजनिक दृष्टि से अनर्थकारिणी भी है जैसी कि मैने 'दिये हुवे प्रेतबाधा के प्रसग के दर्शको की थी। जब तक पाठको की अभिरुचि ऐसी परिष्कृत नही हो जाती कि वह श्रेष्ठ व्यग्य साहित्य की परख कर सके तब तक बडे से बडे रचनाकार के साथ भी न्याय होने की कोई आशा नही है।

अन्तत इतना कहना चाहूँगा कि स्व धूमिल की व्यग्य कविताएँ जीवन की विसगतियो पर आधारित विशुद्ध व्यग्य कविताएँ हैं। उनम प्रयुक्त होने वाले कुछ तथाकथित अशिष्ट शब्द और कुछ अवाछित कल्पनाएँ पाठको के मन म क्षणभर के लिए एक विचित्र-सी सिहरन दौडा देन हैं परन्तु उनके पीछे निहित अर्थबोध की सच्चाई उनके प्रयोगो का औचित्य सिद्ध करती है। उसकी कविता म व्यग्य का एक व्यापक रूप दिखायी देता है। उसके व्यग्य का लक्ष्य सडी गली और भ्रष्ट व्यवस्था को हवा देने की कुत्सित भावना से भरा हुवा नही है। जीवन के विरोधाभासो का चित्रण उनके समथन के लिए नहीं बल्कि उनसे जनता को सचेत करन क लिए किया गया है। जहाँ उसकी कविता म तिलमिलाने के लिए मजबूर करने वाला निष्ठुर व्यग्य है वही गुदगुदी उत्पन्न करने वाला नम हास्य-विनोद भी है जहा सभ्रान्तो की बखिया उधाडने वाला व्यग्य है वही जनसाधारण की चुटकियाँ लेने वाला भी व्यग्य है।

सप्तम अध्याय

औरत एक देह है)

स्व. धूमिल की कुल 60 के लगभग छोटी-मोटी कविताएँ प्रकाशित हुई हैं। उनमें से अनेक कविताओं में उनका 'नारी-बोध' और 'गृहस्थी तथा यौन-भावना' का चित्रण बिखरा है। कुल कविताओं की 10 प्रतिशत रचनाएँ तो विशुद्ध रूप से उन्हीं (उक्त) विषयों के वर्णन के लिए समर्पित हैं। इन कविताओं में नारी माँ, पत्नी, बीवी, जरायमपेशा औरत, खानाबदोश औरत, लड़की, प्रेमिका, पड़ोसन और रंडी आदि न जाने कितने रूपों में प्रकट हो चुकी है। उनकी कविताओं में प्रकट यौन-भावना एक विवादास्पद विषय मानी जा सकती है। यहाँ मैं यौन-सम्बन्ध और लैंगिक-सम्बन्धों की बारीकियों में उलझकर और विवादों को आमन्त्रित करना नहीं चाहता। स्थूल रूप में यही देखना मेरा उद्देश्य होगा कि वह नारी के बारे में क्या सोचता था और यौन-सम्बन्धों के बारे में उसकी सामान्य धारणाएँ क्या थीं? नयी कविता ने पाठकों के मन में यौन-चित्रों को उनकी पूरी अश्लीलता के साथ उभार कर एक जुगुप्सा-जन्य उत्सुकता उत्पन्न कर रखी है। धूमिल के भी कुछ शब्द प्रयोगों के 'ग्राम्यत्व' से उसकी कविता को नयी कविताओं की अश्लील श्रेणी में रखे जाने की आशंका उत्पन्न होती है। इस बारे में एक छोटी-सी आपबीती को लिखना अप्रासंगिक न होगा। धूमिल की कविता 'अकाल-दर्शन' पढ़ाने की तैयारी में मैं उस दिन जुटा था। 'क्रांति यहाँ के असंग लोगों के लिए किसी अबोध बच्चे के--/हाथों की जूजी है।' पंक्तियों में जूजी का अर्थ समझ में नहीं आ रहा था। एक वृहत् शब्दकोश खोला तो उसमें 'जूजू' शब्द मिला जिसका अर्थ था--'बच्चों को डराने के लिए कल्पित जीव, हौआ। परन्तु इस अर्थ को 'जूजी' से जोड़ने पर 'असंग लोगों' के स्पष्टीकरण का सवाल खड़ा होता था। संयोग से मेरे एक मित्र के घर में 'आन्तर-भारती आन्दोलन' के संदर्भ में भारत के विभिन्न प्रदेशों से कुछ युवक-युवतियाँ आयी थीं। उनमें चर्चा करने पर पता चला कि उनमें से एक युवक ब्रज-प्रदेश से भी आया

है। मैंने सहज ही उससे जूजी शब्द का अर्थ पूछा तो वह कुछ रहस्यमय ढंग से मुस्कुराने लगा। उसने प्रतिप्रश्न किया— आपको कहाँ मिला यह शब्द ? मैंने कहा धूमिल की कविता में। तब वह 'सामान्य' होकर कह गया— हमारे प्रदेश में छोटे लड़के की जननेंद्रिय को जूजी कहते हैं। और फिर हम दोनों हँस दिये थे। वह भी धूमिल की कविता का प्रशंसक था। उसकी कविताओं में आने वाले ऐसे कुछ अश्लील से लगने वाले शब्दों के प्रयोग के पीछे निहित कवि की मानसिकता पर बहस हुई थी। दोनों इस बात पर सहमत हुए थे कि ऐसे शब्दों का प्रयोग करने के पीछे कवि का ग्रामीण बोध प्रेरक होता था। ग्रामीण वृत्ति की विशेषता यह होती है कि उसे कोई शब्द अश्लील नहीं लगता। मत यह है कि उसका प्रयोग संप्रेषणीयता को बढ़ाने के लिए किया गया हो। ग्रामीण शब्द प्रयोगों में गजब की संप्रेषण शक्ति होती है। एक उदाहरण पर्याप्त है—यदि कोई व्यक्ति अनिवार्यता उत्पन्न हो जाने पर ही किसी काम को करता हो तो हमारी नागरी भाषा में उसे प्यास लगने पर कुआँ खोदना कहते हैं परन्तु हमारी देहाती भाषा में उसे— जनन बैठ कर भौंट उखाड़ना कहते हैं। अश्लीलता की बात छोड़िये। वैसे भी धूमिल का यह विश्वास था कि कोई कविता अश्लील नहीं होती। संप्रेषण की सटीकता और विश्वसनीयता देहाती भाषा के शब्द प्रयोगों में आश्चर्यजनक होती है।

यौन-सम्बन्धों की समस्याओं के प्रसंग में अश्लीलता को ले आना असंगत नहीं क्योंकि कुछ आलोचक धूमिल को उक्त समस्याओं की दलदल का चितेरा समझते हैं। यौन जीवन की कुरूपता का वर्णन करने वाला कहता है। यदि उनका मत मान लिया जाय तो उसकी अनेक कविताओं से बलात् अनर्थ खोज जाने की संभावना बनी रहती है। मेरी दृष्टि में धूमिल जैसी यौनगत समस्याओं की सही सूझ बहुत कम कवियों में मिलती है। परन्तु लगता है उस सूझ की गहराई तक पहुँच नहीं सका है। संभवत उसका यह दोष दोष न होकर उसकी हैतुक स्वीकारी गयी भूमिका हो। नारी विषयक उसकी दृष्टि न तो पारम्परिक है और न ही तथाकथित प्रगतिशील। कहते हैं कि एक बार किसी ने स्व. जयशंकर प्रसाद जी से पूछा था— प्रसाद जी आपने अपनी कविताओं में अपने प्रिय-पात्र को कभी स्त्री और कभी पुरुष के रूप में सम्बोधित किया है तो क्या आप बता सकते हैं कि वह कौन है ? इस पर प्रसाद जी ने सहज ही छायावादी लहजे में उत्तर दिया था— भाई मैं स्वयं जान नहीं पाया हूँ कि वह कौन है ? उसने अपना अवगुंठन मेरे सामने कभी खोला ही नहीं। धूमिल की नारी के बारे में भी कुछ यही कहना पड़ता है कि वह न तो परम्परा में आने वाली पैर की जूती है और न ही वह पुरुषों के समान हक माँगने वाली आधुनिका है। वह तो एक देह मात्र है जिसके प्रति कवि के मन में न सदभावना है स्नेह है न आसक्ति है न घृणा या तिरस्कार ही है। उसने इसीलिए दो टूक शब्दों में लिखा है—

(औरत जीवन है,
जैसा कि लोग कहते हैं—स्नेह है,
किन्तु मुझे लगता है—
इन दोनों से बढ़ कर
औरत एक देह है)
(कल 50)

इस देह' के बारे में धूमिल की कविताओं में आये हुए उल्लेखों के सन्दर्भों में उसकी नारी-विषयक धारणा और यौन-जीवन के बारे में धारणाओं को स्पष्ट करने में हमें सहायता मिलती है। नारी विषयक दृष्टिकोण, यौन-सम्बन्धों का चित्रण विवाहादि में आस्था-अनास्था आदि को हम 'नैतिकता' के एक व्यापक तत्व में समाहित करके देखने के आदी होते हैं। वस्तुतः नैतिकता को स्त्री पुरुष सम्बन्धों से जोड़ना उसकी व्यापकता को सीमित करना होता है। केवल यौनाचार के कारण किसी को नैतिक अथवा अनैतिक करार देना उसके चरित्र के दूसरे गुणावगुणों की उपेक्षा या अनदेखी करना है। किसी असहाय महिला पर बलात्कार करने वाले शातिर गुंडे से, परिवहन की सुविधा के लिए बने पुल के निर्माण में सीमेंट की घटिया किस्म या सीमेंट की बजाय राख का इस्तेमाल करने वाला 'अ' श्रेणी का ठेकेदार लाख गुना अधिक अनैतिक होता है। अनैतिकता अपराध हो तो केवल यौन-अपराधों से ही नहीं बल्कि और भी कई तरह के अपराधों से समाज और देश की कल्पनातीत हानि और पतन होता है।

रचनाकार की रचनाओं में यदि किसी भी प्रकार की अनैतिकता का वर्णन होता हो तो उसे बुरा नहीं माना जा सकता। क्योंकि अनैतिकता का अस्तित्व एक कटु सामाजिक सत्य होता है परन्तु यदि कोई रचनाकार अनैतिकता का पक्षधर होकर वह काम करे तो यह निश्चय ही चिन्ता का विषय होना है। धूमिल की कविताओं में समाज में व्याप्त भीषण अव्यवस्था का वर्णन है। राजनीतिक अव्यवस्था के साथ-साथ सामाजिक अव्यवस्था का भी चित्रण है। सामाजिक अव्यवस्था के चित्रण के प्रसंग में ही यदि स्त्री, स्त्री और पुरुष के बीच के सम्बन्ध, घर आदि के बारे में उसने कुछ लिखा है तो उसको उसके निजी चरित्र की अपेक्षा एक व्यापक सदर्भ में देखना चाहिए। कुछ आलोचक स्व. धूमिल के निजी पारिवारिक जीवन और गृहस्थी के साथ उसकी कविताओं को जोड़ कर देखते हैं, इससे कविता तो स्पष्ट होती है परन्तु कवि का वह उद्देश्य सफल नहीं होता जो आत्मस्वीकृति की अग्निपरीक्षा से गुजरकर वह सिद्ध करना चाहता है।

स्व. धूमिल की कविताओं में नारी विषयक उसकी कोई उदात्त धारणा स्पष्ट नहीं होती। घर-गृहस्थी के बारे में कोई ऊँची कल्पना, जिसमें आस्था का

स्वर गू जना हो, नही मिलती । एक तटस्थोन्मुखी रूखापन अवश्य देखने को मिलता है । इसके कारण हैं कवि की स्वानुभूतिजन्य मानसिकता, उसके मध्यवर्गीय सस्कार और परम्पराओ को तोड सकने मे उसकी घोर असमर्थता । धूमिल की दृष्टि व्यवस्था की चाहे जितनी भर्त्सना करने वाली थी परन्तु वृत्ति पर मध्यवर्ग के सस्कारो का प्रभाव हावी था । मध्यवग के सस्कार विवाह और घर-गृहस्थी के मामले मे किसी भी विद्रोही को क्रान्तिकारी माग पर आगे बढने से रोकने वाले होते हैं । नासमझी की अवस्था मे उसे विवाह के अटूट और जन्मजन्मातर के लिए समझे जाने वाले बन्धनो मे कस दिया जाता है । समझ के साथ इस कसाव की अस्वाभाविकता का बोध एक ओर बढता है और दूसरी ओर सामाजिक स्वीकृतियो के बन्धनो का एहसास विकसित होता जाता है । इन दो परस्पर विरोधी मानसिकताओ के बीच फसा युवा जीव, भीषण कु ठा का शिकार होकर व्यवस्था मे आस्था खो बैठता है । समूची सामाजिक व्यवस्था उसे कभी 'जगल' और कभी 'दलदल' का रूप धारण करती दिखाई देती है । वह उस जगल मे ऐसा भटक जाता है या दलदल मे ऐसा फस जाता है कि उसे मुक्त करने की शक्ति केवल मृत्यु के हाथ मे होती है । फिर भी वह आत्मघात इसलिए नही करता कि कुछ दैहिक सुविधाओ का लालच उसकी पाशविक प्रवृत्तियो को सहलाता जाता है । इस सामाजिक (अ) व्यवस्था के उग्र अभिशाप को धूमिल ने भी सहा भोगा । उसकी समूची धारणाए जिनमे घर गृहस्थी दाम्पत्य-जीवन और यौन-सम्बन्धो की समाहिती होती है, निम्नलिखित दुर्घटना से उत्पन्न होती दिखाई देती है—

मैंने देखा है
किस तरह मकानो की आड मे
छिपे हुए मकान
दरवाजो मे चाकू छिपा कर
आदमी का इतजार करते हैं
'स्वागत है' आहिस्ता-आहिस्ता
किसी आदमखोर के जबड़े की तरह
उस मकान का फाटक खुल जाता है
और देखते ही देखते
एक समूचा और मुसकुराता हुआ आदमी
उसके भीतर नमक के ढेले-सा
घुल जाता है
तुम उसे रोक नही सकते
कुछ आदिम मुहावरो ने

उसके दिमाग की सबसे समझदार
नस को मुर्दा बना डाला है
उसके खून में—वसंत की लय पर
हर वक्त, एक गीत बजता रहता है—
'मकान मानव सम्बन्धों की मनोहर चित्रशाला है
मगर मैं इसका मतलब समझता हूँ
रसोईघर में खुशबूदार मसालों ग्रौर उबलती हुई
मुसकुराहटों का जहर
किस तरह उसकी हत्या करता है
किस तरह रिश्ते उसे दावत की तरह खाते हैं
मैंने ग्रपने बेलगाम मित्रों को बतलाया है
कि किस तरह इस षड्यन्त्र की शुरूग्रात
उसी वक्त हो जाती है जब ग्रादमी
ग्राजादी ग्रौर वक्त से ऊबकर
ग्रपनी देशी ग्रादतों ग्रौर सस्ती किताबों के साथ
16 × 12 फुट का एक खूबसूरत कमरा हो जाता है
जब फूल ग्रौर गोश्त में
फर्क करने के सारे सबूत मिटाकर
वह बिस्तर से खिड़की तक
फैलकर सो जाता है।
(स॰ 56–57)

मकान तो यहाँ लड़के की 16 ग्रौर लड़की की 12 वर्ष की ग्रल्पायु में ग्रारंभ होने वाली गृहस्थी का प्रतीक बनकर ग्राता है। गृहस्थी के बारे में उक्त प्रकार की ऊब ग्रौर खीझ की भावनाग्रों को मन में पालने वाला ग्रपनी 'धर्म-पत्नी' को 'उस स्त्री' के रूप में देखकर उसकी 'बगल में लेटने' की तटस्थता के साथ दाम्पत्य की भैंसा-गाड़ी को चरमरर चरमरर चलाता रहे तो इसमें ग्रस्वाभाविकता कहाँ। रसोई घर से ग्राने वाली खुशबू ग्रौर हँसी उसकी जीभ ग्रौर जाँघ की लालच को मकान के साथ बाँध रखने का ग्रौर उसमें बँधे रहने की लाचारी उपजाने का काम ग्रंजाम देती है। उसे घर में सुविधाग्रों का ग्राभास होता है ग्रौर वह ग्रनुभव करने लगता है—

मुझे लगा है कि हाँफते हुए
दलदल की बगल में जंगल होना
ग्रादमी की ग्रादत नहीं ग्रदनी लाचारी है

और मेरे भीतर एक कायर दिमाग है
जो मेरी रक्षा करता है और वही
मेरी वक्ता का उत्तराधिकारी है

(स० 30–31)

यदि छोटी-छोटी सुविधाओं का उपजाने वाली गृहस्थी में अनचाहे बँधे तटस्थ जीवों का देखना हो तो समाज में लोगों की संख्या में मिल सकते हैं। इस प्रकार की अयाचित गृहस्थी के प्रति, जिसे चाहें तो लादी हुई गृहस्थी कह लें गृहस्थ की तटस्थता की सीमा तो तब दिखायी पड़ती है जब वह लिख जाता है कि—

न मैंने
न तुमने
ये सभी बच्चे
हमारी मुलाकातों ने जने हैं
हम दोनों तो केवल
इन अबोध जन्मों के
माध्यम बने हैं।

(कल 51)

धूमिल ने एक गृहस्थ के व्यक्तिगत जीवन (जिसे उसका निजी नहीं कह रहा हूँ) का गृहस्थी के प्रति तटस्थता का यह कैसा यथार्थ वर्णन किया है। अवांछित या लादी हुई गृहस्थी का बोझ और वहन पारिवारिक दायित्वों का निभाने के लिए प्रस्तुत हड़बड़ी और आपाधापी का विकल्पहीन कठिन रास्ता गृहस्थ को सारे जीवनभर एक नीरसता और स्नेहशून्यता की मनोदशा में जीने के लिए विवश कर दे तो आश्चर्य नहीं। जिंदगी की सफर पर दौड़ती साइकिल आयु के वसन्त से निकल कर शिशिर में पहुँच कर रुके और अन्तिम सांस रूपी पत्ते के झरने के समय यह बोध हो जाय तो आश्चर्य नहीं—

'ऐसी क्या हड़बड़ी कि जल्दी में पत्नी को
चूमना—
देखा फिर भूल गया।'

परन्तु लगता है यह रोज-बरोज की चूमा चाटी की इच्छा भी उभरती नहीं। क्योंकि गृहस्थी के प्रति उसकी घोर अनास्था और उदासी, घनिष्ठता और तटस्थता उसे इसके योग्य भी नहीं छोड़ती कि वह कभी ऐसी बात को मन में भी लाये तब उसे याद कहाँ से करें ?

वस्तुतः धूमिल की कविता लगता है, उक्त मानवी मन की विवशता की थाह नहीं सकी है। सचाई तो यह है कि धूमिल ने राजनीतिक व्यवस्था को जिस

गम्भीरता से अपनी चिन्ता का विषय बनाया और गर्मजोशी से उस पर लिखा उसके सौवें हिस्से की भी गम्भीरता उसके नारी-विषयक चिन्तन और यौन-समस्याओं के चित्रण में नहीं आ सकी है। हाँ, दोनों में एक साम्य है—दोनों के कुरूप का वर्णन उसकी कविताओं में हुआ है। यौन-सम्बन्धों के चित्रणों में वह स्पष्टता और गहराई नहीं है जो राजनीतिक विषयक चित्रणों में है। इसका कारण सम्भवत कवि के मन की हिचकिचाहट और पारिवारिक संस्कार भी हो सकता है। 'काम' की उद्दाम भावना का आभास देती हुई-सी उसकी ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> जब कभी
> जहाँ कहीं जाता हूँ
> अचूक उद्दण्डता के साथ देहों को
> छायाओं की ओर सरकते पाता हूँ
> भट्टियाँ सब जगह हैं
> सभी जगह लोग सेंकते हैं शील
> उम्र की रपटती ढलानों पर
> ठोंकते हैं जगह-जगह कील—
> कि अनुभव ठहर सके
> (स 24–25)

वैसे धूमिल ने प्रेम-भावना को भी उदात्त दृष्टि से नहीं देखा। मानवी जीवन के इस कोमल (प्रणय पक्ष के प्रति कवि की इस संवेदन-शून्यता का कारण, जहाँ तक मुझे लगता है, उसका यह विश्वास है कि यौन–समस्या भूख की समस्या के बाद की समस्या है।

> वर्ना तुम कर भी क्या सकते हो
> यदि पड़ोस की महिला का एक बटन
> तुम्हारी बीवी के ब्लाउज में
> (कीमत में) बड़ा है
> और प्यार करने से पहले
> तुम्हें पेट की आग से होकर
> गुजरना पड़ा है
> (क० 84)

इसी विश्वास से उसे भूख की समस्या ने अपनी ओर ऐसा आकर्षित किया कि इस दूसरी समस्या पर सोचने का उसे अवसर ही नहीं मिला। एक परम्परागत विचारों वाला धूमिल यदि कहीं दिखायी देता है तो केवल इसी क्षेत्र में। उसकी यह आत्मस्वीकृति भी इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है—

वह धूमिल नहीं—
एक डरा हुवा हिन्दू है
उसके बीवी है
बच्चे हैं
घर है
अपने हिस्से का देश
ईश्वर की दी हुई गरीबी है
(यह बीवी का तुक नहीं)
और सही शब्द चुनने का डर है
(स० 68)

राजनीति की विफलता पर प्रचंड आक्रमण करने वाला कवि धूमिल घर गृहस्थी के बारे में कुछ ऐसा सपाट सोच और लिख जाता है कि जिस पर विश्वास करना भी कभी-कभी मुश्किल लगने लगता है। एक उद्धरण देखिए—

पत्नी का उदास और पीला चेहरा
मुझे आदत-सा आंकता है
उसकी फटी हुई साड़ी से झांकती हुई पीठ पर
खिड़की से बाहर खड़े पेड़ की
वहशत चमक रही है
मैं झेंपता हूँ
और धूमिल होने से बचता हूँ
याने बाहर का 'दुर-दुर'
और भीतर का 'किल-किल' होने से
बचने लगता हूँ
(स० 70)

लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि अपने ही मकान के प्रति आदतवश, सामाजिक भयवश और छोटी-छोटी सुविधाओं की लालचवश समर्पण करने की घोषणा करने वाला कवि कभी इधर-उधर ताक-झांक करने का चित्रण करता ही नहीं। हमने पिछले अध्याय में देखा था कि समसामयिक विसंगतियों को उजागर करने के लिए उसने अपनी माँ के झुर्रियों वाले मुख और माँ की उम्र की ही पड़ोस की महिला के मुख पर अपनी प्रेमिका के मुख-सा लोच होने की बात की थी। प्रेम के क्षेत्र में विफल व्यक्ति का एक चित्र प्रस्तुत करते हुए उसने लिखा—

उम्र के सत्ताईस साल
उसने भागते हुए जिए हैं

उसके पेशाब पर चींटियां रेंगती हैं
उसके प्रेमपात्रों की आंच में
उसकी प्रेमिकाएं रोटियां सेंकती हैं
अपनी अधूरी इच्छाओं में झुलसता हुआ
वह एक संभावित नर्क है
वह अपने लिए काफी मनहूस है
और जब जवान औरतों को देखता है—
उसकी आंखों में कुत्ते भौंकते हैं
(सं० 59)

स्व० धूमिल की ऐसी उक्तियाँ भी देखी जा सकती हैं जिनका संबंध घर-गृहस्थी या दाम्पत्य-जीवन से नहीं है। यौन-समस्याओं से उनका कोई वास्ता नहीं है। कुछ विशेष प्रसंगों के वर्णन के संदर्भ में प्रकट उसके वे विचार हैं। जैसे वह कविता की सार्थकता की तात्कालिकता के लिए उसे तीसरे गर्भपात के बाद होने वाली लड़की की धर्मशाला-सी स्थितिवत् बनाता है। नयी पीढ़ी की दिशाहीनता और आमोद-प्रमोद-प्रियता को प्रतिबिंबित करने के लिए 'पिकनिक से लौटी लड़कियां में प्रेमगीतों के गरारे' करवाता है और 'प्रेम में असफल छात्राओं को अध्यापिकाएं' बना देता है। मातृभाषा की लाचारी को 'एक साड़ी पर महाजन के साथ रातभर सोने के लिए राजी होने वाली महरी' को सामने लाकर स्पष्ट करता है। सही नव-हीन जीवन की लीक पर चल पड़ने वालों का रंडियों की दलाली करके जीने जैसा घृणित घोषित करता है। राजनेताओं की चालाकी की भर्त्सना करने के लिए उस एक ओर 'जनता' और दूसरी ओर 'जरायमपेशा औरतों' के बीच की रेखा काटकर बनाया स्वस्तिक' याद आता है और अपने देश की घोर अव्यवस्था के कारण किसी भी व्यक्ति को किसी भी प्रकार के सुख की आशा करना करना 'अंधी लड़की' से सहवास के बाद उसकी 'आंखों में सहवास का सुख' तलाशने जैसा व्यर्थ लगता है।

स्व० धूमिल की कविताओं में स्त्रियों को केवल जीवन की अव्यवस्था और कुरूपता के स्पष्टीकरण के प्रसंग में ही याद किया गया है यह बात नहीं। राज-नेताओं की चालाकियों का भंडाफोड़ करते हुये उनकी भाषा-सम्बन्धी नीति को लोक-प्रिय बनाने के लिए अपनाये गये हथकंडों के रूप में प्रयुक्त उनकी भाषा की मादकता का रहस्य खोलते हुये लिखता है—

जिसमें तुम्हारे बचपन की
लोरियों की गंध है
और
जो तुम्हें बेहद पसंद है
(सं० 97)

अर्थात् इसम लारिय। के माध्यम से ही सही मातृत्व का गौरव हाता देखा जा सकता है।

स्व० धूमिल की एक कविता है 'राजकमल चौधरी के लिए' जिसम स्त्रिया क बारे म अनेक प्रकार के मत प्रकट किये गये हैं। उस कविता स उभरने वाली नारी योनि की सफलता के बाद गर्भ के गीत गान वाली मासिक धम रक्त ही चमड की निजनता को गीला करने के लिए सोहर की पक्तियो का रस नये सिरे से सोचने वाली पतिया से अधिक कलाकार कवि के प्रति शील के साथ समर्पित होन वाली आदि न जाने कैसी कसी है! इसे राजकमल चौधरी से सम्बद्ध समझकर इसम धूमिल की धारणाओ को खोजने की आवश्यकता नही।

और एक कविता है स्व० धूमिल की लिखी हुई— आतिश क अनार सी वह लड़की। देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए शत्रु के टैंक के नीचे बम के साथ स्वय का झोंक देने वाली आत्म उत्सग करने वाली कुमारी रोशन आरा पर उक्त कविता लिखी है। उसकी अनकानेक प्रकार स प्रशस्तियाँ गाकर कवि उसके सच्चे गौरव को अकित करता है। कुछ पक्तियाँ बेहद ममस्पर्शी हैं। जैसे— लकिन मैं सिफ यह कहना चाहूँगा—वह एक भोली जरूर थी/औसतन गलत जिंदगी और सही मौत क चुनने का सवाल था। इसे अगर कविता की भाषा म कहूँ— यह जगल क खिलाफ जनतत्र का सवाल था। (कल० 22)

वसे इस कविता का कथ्य ही भिन्न है। एक देश भक्त क रूप म कु रोशन आरा ने दिखाय अनुपम धैय का गौरव करन क लिए सही शब्द चुनत हुव स्व धूमिल न लिखा था—

> ओह! जैसा मैंन पहल कहा है—
> बीस सेवो की मिठास स भरा हुआ यौवन
> जब फटता है तो न सिफ टैंक टूटते हैं
> बल्कि खून के छींट जहाँ जहाँ पड़त हैं
> बंजर और परती पर आजादी के कल्ले फूटत हैं
> और ओ प्यारी लड़की।
> कल तू जहाँ आतिश का अनार की तरह फूटकर
> बिखर गयी है ठीक वही से हम
> आजादी की वर्षगाँठ का जश्न शुरू करत हैं।
>
> (कल० 24)

उक्त उद्धरणो स एक सशक्त सकेत यह मिलता है कि स्व० धूमिल नारी के प्रति किसी भी प्रकार का दूषित दृष्टिकोण नही रखता था। उसक लिए जावन म

प्रणय की अपेक्षा स्वदेश की स्वाधीनता की रक्षा का प्रयास महत्वपूर्ण था। अव्यवस्था में पीडित राजनीति, दलदल वाली सामाजिक स्थिति और जंगल की न्याय व्यवस्था जैसे असह्य पीडाओं में कराहता स्वदेश ही उसके काव्य के लिए श्रद्धा और आस्था का विषय था।

एक प्रश्न यह उठता है कि आखिर किन कारणों से धूमिल ने यौन-समस्याओं पर जो कुछ लिखा अस्पष्ट, अटपटा और अनास्थापूर्ण लिखा ? वस्तुतः उसके सामने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को परिभाषित करने वाली कई काव्य-परम्पराएँ थी। कविता में चित्रित नारी के अनेक रूप थे। धूमिल ने उसको शायद महत्व देने की आवश्यकता नही समझी। यह भी हो सकता है कि अपने समय के और अपने आसन्नपूर्व कवियों द्वारा चित्रित भोंडी यौन-समस्याओं और विकृत नारी-रूपों ने उस विषय के प्रति ही उसका मन वितृष्णा से भर दिया हो। इसी की प्रतिक्रिया उसकी कविताओं में इस विषय के प्रति तटस्थता में दिखायी दी होगी। यह भी असम्भव नहीं कि उसका देहाती-बोध उसे यौन समस्याओं के चित्रण और नारी-चरित्र के अंकन करने से रोक गया होगा। वैसे देहाती मन में आज भी नारी के प्रति कोई न्याय और आदर की भावना नही है। इतना ही नहीं बल्कि समूचे यौन-जीवन के प्रति देहाती मन में एक तरह का अलगाव-सा होता है। इसमें गोपनीयता के प्रति सतर्कता भी होती है। यह ठीक है या गलत ? कहना कठिन है परन्तु बर्नार्ड शॉ भी कहता है– यौन आनंद का विषय है चर्चा का नहीं।'

एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि धूमिल की कविताएँ उसकी क्रुद्ध और ग्लानि की मनोदशा की उपज हैं। उसकी कविता के रचनाबोध के विचार-प्रसंग में मैंने उसकी चीजों को 'सही कद' में प्रस्तुत करने की अभिलाषा का संकेत किया था। सही कद का मतलब उसने चीजों को अनावृत्त करके प्रस्तुत करने से नहीं लिया था। उसकी इस बारे में बड़ी स्पष्ट धारणा थी। उसने लिखा है—

> "इस सन्दर्भ में एक बात स्पष्ट करना आवश्यक समझता हूँ। मैं इतना बिना शील नहीं कि पूरा एक पृष्ठ लजाने के बाद महावीर प्रसाद द्विवेदी की तरह यह कहूँ कि मैंने 'सुहागरात' लिखा था। और न मुझ में यह दुःसाहस ही है कि किसी गन्दे और स्पष्ट शब्द का साहित्य में पहली बार इस्तेमाल करने का दर्प ही भेजूँ। मेरे नजदीक शब्द अपनी पूरी मर्यादा और पवित्रता में आते हैं और मैं उनके अर्थ की रक्षा भर करता हूँ। 'अश्लीलता का शील' मेरी निजी समस्या है।"
>
> (नया प्रतीक–फरवरी 1978–पृ० 4)

अश्लीलता और शील का खयाल रखने वाला स्व० धूमिल शब्दों के अर्थों के प्रति सतर्क था इसी लिए उसने अधिक से अधिक सार्थक शब्दों को प्रयुक्त किया।

मायक शब्द उसे देहाती परिवेश में मिले हो और हमारी नागरी दृष्टि में उन शब्दों म कुछ अशिष्टता दिखाई दे तो यह दृष्टिदोष नही दृष्टिभेद हो सकता है। स्व धूमिल की नारी और यौन-जीवन की समस्याओ के प्रति संक्षिप्तता और पारम्परिकता पर तब थोडा सा आश्चर्य होता है जब कवि के बारे मे यह आग्रह पूर्वक कहा जाता है कि उस पर कार्ल मार्क्स के दर्शन का प्रभाव था। यदि ऐसा था तो उसने श्रमिक स्त्री पर केवल एक ही पंक्ति 'बच्चो को सुलाकर औरतें खेत पर चली गयी है (कल० 58)' लिख कर क्यो चुप्पी साधी ? स्त्री को शोषित वर्ग से सम्बद्ध समझ कर उसके प्रति न्याय करने की साम्यवादी विचारधारा ने कवि को क्यो नही प्रभावित किया ? उसने ऐसा क्यो लिखा—

> चौके में खायी हुयी औरत के हाथ
> कुछ भी नही देखते
> वे केवल रोटी बेलते है और बेलते रहते है
>
> (कल० 17)

जिससे नारी–सम्बन्धी पारम्परिक धारणाओ को और पुष्ट होने मे सहायता मिलती हो !

वस्तुत धूमिल के समग्र काव्य का लक्ष्य ही अपने समकालीन जीवन के अंग प्रत्यंग मे व्याप्त अराजक को स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत करना था। उसने अपने समाज का यौन-गत आचरण और नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण भी वही चुना जो उसके लक्ष्य की पूर्ति म सहायता देता था। हर कविता मे राजनेताओ को लताडन वाला कवि स्व जवाहरलाल नेहरू और स्व लाल बहादुर शास्त्री की प्रशस्ति मे कुछ लिखता है तो वह उसका उसी प्रकार का अपवादात्मक स्वर है जैसा जनतन्त्र पर हाथ उठान वालो की (और उठाने वालो) औलाद को जन्म देने के लिए प्रस्तुत मल्लाहरखी, एक साडी के बदले महाजन के साथ रात बिताने पर राजी होन वाली महरी, प्रेम-पत्रो पर रोटियाँ सेंकन वाली प्रमिका, अपनी जाँघो मे घुसे आदमी का घोसला बनवाने की व्यथता समझाने वाली खानाबदोश औरत और तीसरे गर्मपात के बाद धर्मशाला होती लडकी का नारी रूप और चरित्र चित्रित करने वाले कवि का ही 'प्रातिश के अनार सी वह लडकी' लिखने मे फूट पडना है। इसका अर्थ यही हुआ कि धूमिल का ध्यान यौन-जीवन और नारी रूप अव्यवस्था और कुरूप की ओर अधिक रहा है। इससे यह समझने की गलती हो सकती है कि धूमिल जीवन के कुरूप का ही चितेरा है अत उसकी अभिरुचि के सद होन म आशका उत्पन्न हो सकती है। परन्तु यह सही नहीं होगा। इस पर एक सार्थक विवेचना करत हुए लिम मय श्री रामदयाल पाडेय के निम्नलिखित शब्द द्रष्टव्य है—

'धूमिल की कविताओं में यौन-जीवन के चित्र भी यत्र-तत्र मिलते हैं। उन चित्रों में समरसता तथा मधुरता का अभाव है। वे चित्र अपने आसपास के जीवन और समाज से लिये गये हैं। समाज में यौन सम्बन्धों की अनेक रूपता है। वहाँ अगर व्यभिचार का दलदल है तो प्यार-स्नेह की सरिता भी है, किन्तु धूमिल ने चित्रण के लिए दलदल को ही चुना है। लगता है कि धूमिल जीवन की विकृतियों को उघाड़कर फेंक देना चाहते हैं और अपना असन्तोष-आक्रोश प्रकट करते हुए विद्रोह की आग भड़काना चाहते हैं। अतः यह समझ बैठना कि धूमिल को यौन विकृतियाँ पसन्द हैं—बहुत बड़ी भूल होगी। वस्तुतः उनके चित्रण के मूल में अस्वीकार का स्वर है, स्वीकार का नहीं। सत्य के एक पहलू को ही चित्रित करने के कारण उन पर एकांगी होने का आरोप सहज ही लगाया जा सकता है और उसे 'अराजकता का एक लक्षण भी माना जा सकता है, किन्तु यह आरोप उनकी प्रखरता को धूमिल नहीं कर सकता। कारण यह कि उन्होंने कहीं भी जीवन के उज्ज्वल पक्ष पर चोट नहीं की है, भले ही उसका चित्रण उन्होंने कम किया हो। प्रहार उन्होंने हमेशा कुत्सित और अस्वीकार्य पर ही किया है, सुन्दर और स्वीकार्य पर नहीं, जो मूलतः एक विद्रोही व्यक्तित्व व कवि के लिए सर्वथा स्वाभाविक है।'

(आलोचना 33 वाँ अंक)

अपने समय की व्यवस्था की विकृतियों को स्पष्ट करने के लिए धूमिल ने विधवाओं और सधवाओं को भी कविता में स्थान दिया है। चीनी आक्रमण के बाद देश की स्थिति का बयान करते हुये उसने लिखा है—

> लोग—
> घरों के भीतर नंगे हो गये हैं
> और बाहर मुर्दे पड़े हैं
> विधवाएँ तमगा लूट रही हैं
> सधवाएँ मंगल गा रही हैं
>
> (स. 13)

इन पंक्तियों में विधवाओं के आचरण की समीक्षा करने की कवि का हेतु नहीं है बल्कि देश की बिगड़ी हुई स्थिति के संदर्भ में उनके आचरण को देखने का आग्रह है। यदि युद्ध में आत्म-उत्सर्ग करने वाले वीर जवानों को उनके मरणोपरान्त पुरस्कृत किया जाय और उन पुरस्कारों को उन जवानों की विधवाएं लेती रहें तो इसमें विकृति क्या है ? एक सहज प्रश्न उत्पन्न हो सकता है। इसका उत्तर यही है कि युद्ध के दिनों में जवानों का और देशवासियों का हौसला बुलन्द रखने के लिए कई बार मरने वाले सैनिकों के साथ बहादुरी के किस्से गढ़े जाते हैं और उनके निकट के सम्बन्धियों को पुरस्कृत किया जाता रहता है। इसीलिए कवि ने विधवाओं से

तमग 'तुरवान' की बात लिखी है। इस प्रसंग को मैं एक उदाहरण से स्पष्ट करना चाहूँगा। आजादी के दस वर्ष बाद की बात है। दक्षिण में एक भीषण रेल-दुर्घटना हुई थी। सौ से अधिक लोग मारे गये थे। एक नदी पर बना पुल टूट जाने से रेलगाड़ी के कुछ डिब्बे बह गये थे। मरने वालों के प्रेत उसी नदी पर बने एक जलाशय में जा पहुँचे थे। उस जलाशय पर पुलिस रखी गयी थी, प्रेतों की रक्षा (!) के लिए। एक रात में दो कान्स्टेबुल उस तालाब के किनारे गश्त लगा रहे थे कि उन्हें तालाब के किनारे पर तैर कर आया एक प्रेत दिखायी दिया। तेज रोशनी वाली टार्च से यह जाना गया कि प्रेत किसी स्त्री का है। पुलिस वालों ने अनुमान लगाया स्त्री का प्रेत है तो गहने तो होंगे ही। अतः एक पुलिस का सिपाही पानी में उतरा। प्रेत को घसीट कर जमीन पर ले आया तो दोनों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। प्रेत गहनों से लदाफदा था। हाथ, कान, नाक के आभूषण उतार लेने के बाद कमर में बंधी खालिस सोने की भारी चैन निकालनी थी। प्रेत फूला था इसलिए उस आसानी से खींच निकालना संभव न था। जल्दबाजी में एक सिपाही ने उस प्रेत के पेट पर पैर रखकर चैन को ताकत के इरादे से खींच लिया। प्रेत के मुँह से पानी का कुल्लामा हुआ तो वह सिपाही भूत पिशाच की आशंका से भयभीत होकर मूच्छित हो गया। जो सिपाही होश में था चालाक था। उसने प्रेत की कमर से चैन भी उतार ली और प्रेत को तथा अपने अचेत साथी को भी पानी में फेंक दिया। थोड़ी दूर रुक कर, घटना को उचित स्थान पर पहुँचा कर वह स्वयं पुलिस थाने पहुँचा और प्रेत निकालने के प्रयास में अपने साथी के डूब जाने की रपट थाने पर लिखवा दी। परिणामतः पानी में डूब मरने वाले को सजाओं के प्रति तत्परता का मरणोत्तर पुरस्कार' दिया गया। उस पुरस्कार का तनी उसकी विधवा की तस्वीरें अखबारों में निकलीं। जनता ने उस बहादुर की सेवाओं की भूरि भूरि प्रशंसा की। *यह व्यवस्थागत दोष कब से समाज में घुसा हुआ है कहे नहीं सकते। इसी तरह पर* कटाक्ष करने के लिए 'विपक्षियों का तमगा तुरना' धूमिल को सूझा होगा। कहना होगा कि नारी के हर रूप को उसने सामाजिक और राजनीतिक दोषों को उघाड़ने के साधन के रूप में प्रयुक्त किया है। उसके इसी उद्देश्य के कारण नारी में सर्वनिष्ठ उसकी किसी भी प्रकार की धारणाओं को प्रकट होने का अवसर ही नहीं मिल पाया है। इसीलिए उसके मन में नारी एक देह से बढ़कर कुछ भी नहीं है। स्नेहा आँचल और स्नेह मान कर उस मातृत्व और पत्नीत्व का गौरव देने के प्रति वह असहमत सा लगता है।

अन्ततः एक प्रश्न का विचार आवश्यक लगता है—क्या इस प्रकार के देह-स्वरूप यौन जीवन और आस्थाहीन नारी-स्वरूप का वर्णन कविता के लिए उचित है? यह प्रश्न मेरा अपना नहीं। एक आलोचक रामदरश पांडेय जी का

उठाया हुआ है और वह भी 'एक औरत की बगल में लेटकर' कविता के सन्दर्भ में। उन्होंने घूमिल के पक्ष में दलील दी है। उनका तर्क यही है कि—'जिन्दगी के कीचड़ और दलदल का कविता और साहित्य की अन्य विधाओं में सही-सही और सार्थक उपयोग हो सकता है। अगर साहित्य की अन्य विधाओं में, विशेष रूप से कथा—साहित्य में जीवन के तमोमय पक्ष का चित्रण हो सकता है तो कविता में क्यों नहीं? इससे कविता की कोमलता अवश्य थोड़ी बहुत कम हो सकती है, किन्तु वह कुरूप और कमजोर कदापि न होगी, अपितु मजबूत होगी और जीवन की कुरूपता के खिलाफ संघर्ष में वह विशेष रूप से सहायक हो सकेगी।

(आलोचना 33 वाँ अंक—7 पवाँ पृष्ठ)

जहाँ तक मेरी अपनी तुच्छ राय है, मुझे यह लगता है कि कविता से कामलता की ही कामना करना एक पिछड़ी धारणा का परिचायक होता है। कविता वीररस उत्पन्न करने वाली भी होती थी। कविता प्रतिपक्ष के प्रति घृणा और विद्रोह भरने वाली भी हो सकती है। प्रगतिवादियों का वर्गभेद चित्रण और वर्ग संघर्ष की अनिवार्यता सिद्ध करने के लिए शोषकों का भयावह और शोषितों का निरीह रूप चित्रण यदि कविताओं में हो सकता है तो घूमिल की अपनी व्यवस्था के गलत होने के प्रति नाराजी मानवी जीवन के काले पक्ष को काव्य का कथ्य बनकर क्या नहीं प्रकट हो सकती? यह बात अलग है कि घूमिल को भाव-कवि की अपेक्षा विचार कवि होने में अधिक सफलता मिली है परन्तु उनके सभी विचार, विशेषतः यौन-जीवन और नारी सम्बन्धी उनकी धारणाएँ, सभी को स्वीकार्य हों यह आवश्यक नहीं। यौन-जीवन में दलदल ही इस धारणा से उत्पन्न होती है कि नारी को केवल देह समझकर उसे उपभोग्य वस्तु का दर्जा दिया जाता है। सम्पत्ति का भी उपभोग्य समझकर ही शोषक और शोषित वर्ग उत्पन्न हुये हैं। सम्पत्ति के स्वामित्व की समस्या उक्त वर्गों के निर्माण के मूल में है परन्तु नारी को उपभोग्य समझने से, प्रतिक्रिया स्वरूप स्वयं नारी से होने वाले व्यवहार-विशेष के कारण मानवी यौन-जीवन में दलदल, कीचड़, अराजक, अव्यवस्था, अनैतिकता या फिर जो भी कहो, उत्पन्न होती है। यहाँ स्वामित्व को लेकर समाज दो वर्गों में इसलिए नहीं विभक्त होता कि स्वयं नारी ही शोषित वर्ग में जा खड़ी होती है।

वैसे भी स्त्री को केवल एक देह मानने का घूमिल का विचार कोई मौलिक नहीं है और न ही कोई क्रांतिकारी। वस्तुतः हर यौन-जीवन सम्बन्धी रचना में, चाहे वह किसी भी विधा और भाषा की हो, यही देहवाद प्रत्यक्ष दिखाई देता है। कोई मनोवैज्ञानिक कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार या कवि नारी के अन्तर्द्वन्द्व का चाहे जितना उत्कट चित्रण कर ले, उसकी रचना में प्रकट होने वाला पुरुषी अहंकार अन्ततः इसी मान्यता को पुष्ट कर देता है कि स्त्री एक देह मात्र है। उसमें

होने वाले भावात्मक विकार क्षण भर के लिए विचारणीय भले ही हों लेकिन उनकी कोई अन्तिम महत्ता नहीं है। स्त्री पुरुष के बीच की यह सारी सम्बन्धगत स्थिति का पुरुष पक्षपाती होने का मूल कारण है 'अर्थ'। अर्थार्जन के साधनों पर पुरुषों के एकाधिकार ने ही स्त्री को एक साड़ी के लिए पैसे वालों के हाथ इज्जत लुटाने पर मजबूर किया है। हो न हो जिसने उस बेचारी की भूख की मजबूरी का नाजायज लाभ उठाकर उसकी टांगों में अफीम डाल दी हो।

पुरुष प्रधान समाज में पुरुषों के साथ पक्षपात केवल धर्म, अर्थ और काम के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि साहित्य के क्षेत्र में भी होता रहा है। यथार्थ के नाम पर कल्पनाओं की कोख से जन्मा साहित्य प्रचलित, प्रचारित, प्रसारित और प्रशंसित भी होता रहता है। क्षणभर के लिए यदि हम स्त्री को केवल देह मान लें, *संवेदनाशून्य मान लें मात्र उपभोगवस्तु मान लें तो इस प्रश्न का उत्तर हम कहाँ से दे सकेंगे कि यौन आचरण का सबसे अधिक गहरा प्रभाव उसी पर क्यों पड़ता है? यौन-सम्बन्ध का प्रत्यक्ष फल जिसे मातृत्व कह सकते हैं उसे ही मिलता है।* यौन अपराध की सबसे कठोर शिक्षा, उसी के पास पत्नीत्व होने से, उसे ही मिल जाती है। यदि औरत एक देह होती जैसा कि धूमिल सोचते हैं तो शायद कोई समस्या ही न होती—यौनगत अपराधों की। आये दिन हमारे यौन जीवन के कुरूप पक्ष को उभाड़ने वाली कई विधाओं में कई रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। उस कुरूप पक्ष का सब स्वीकृत सा रूप होता है यौन अपराध। उसमें भी स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले यौन अपराध कम और पुरुष द्वारा किये जाने वाले अधिक चित्रित होते हैं। उनमें भी 'बलात्कार' का अपराध बड़ा ही कुख्यात है। बलात्कार का हर वर्णन इस धारणा को झुठलाया है कि स्त्री केवल एक देह नहीं, वह उससे भी आगे कुछ है। किसी भी बलात्कार के प्रसंग के चित्रण में बलात्कार के बाद स्त्री को सुखी समाधानी चित्रित करने का साहस शायद ही किसी रचनाकार को हो। क्योंकि यह वास्तविकता नहीं होती। वास्तविकता यही होती है कि बलात्कार को सह लेने पर स्त्री के मन अन्तःकरण की स्थिति शब्दातीत विचलन की होती है। यदि वह—स्त्री—केवल देह होती तो ऐसा न होता। स्त्री देह में भी आगे और बहुत कुछ होने का अनुभव हम हमेशा ही आता है और उक्त बलात्कार जैसे प्रसंग विशेष पर पर तो और अधिक इस बात का एहसास होता है। वस्तुस्थिति यह है कि संवेदनशीलता, पाप भीरुता और सहनशील बने रहने की सतर्कता यदि मानवी जीवन के श्रेष्ठ मूल्य हैं तो वे स्त्री के पास पुरुष की तुलना में अधिक होते हैं। इन पर जब जब आँच आती है वह इसका यथाशक्ति प्रतिरोध करती है परन्तु प्रकृति ने ही उसे शरीर की दृष्टि से क्षीण शक्ति बनाया है जिसके कारण उसका प्रतिरोध दबाया-खत्म किया जाता है। प्रकृति ने ही उसे मानसिक दृष्टि से प्रचंड शक्ति सपन्न बना रखा है। *वह उसी शक्ति के सहारे अपने जीवन की इति सहज में ही कर सकती है।*

इधर मराठी में प्रकाशित एक कहानी के कथ्य का हवाला देकर मैं यह दिखाना चाहूँगा कि स्त्री मात्र देह नहीं है। कहानी का शीर्षक और कहानीकार का का नाम मेरी विस्मृति के अंग बने हैं। कथ्य पर स्मृति का वश होने से कहना चाह रहा हूँ। *गुप्तचर विभाग के एक अधिकारी के पास प्रतिष्ठानों द्वारा किये गये* बलात्कारों की जांच करने के आदेश आते थे। वह जांच भी कुशलता से कर लेता था। जाँच करते-करते बहुत दिन बीते। किसी दिन उसे यों ही लगा कि इतने बड़े-बड़े लोग जब बलात्कार करते हैं तो उस काम में अवश्य ही कोई रोमांचक अनुभूति होती होगी। अतः वह स्वयं भी क्यों न उस अनुभूति को प्राप्त कर ले? एक दिन उसने पत्नी से कह दिया कि वह सन्ध्या समय किसी महत्वपूर्ण जाँच-पड़ताल के लिए एक दूर के गाँव जा रहा है। उसका 4–5 दिनों बाद लौट आना होगा। वह सन्ध्या-*समय यात्रा की तैयारी के साथ घर से बाहर निकल गया। मध्यरात्रि तक अपने ही* शहर के किसी होटल में रुका। मध्यरात्रि में भेस बदलकर अपने ही घर आकर दरवाजा तोड़कर पत्नी से बलात्कार करके भाग गया। प्रातः वह घर लौटा तो उसकी पत्नी मृत पायी गयी।' क्या यदि औरत मात्र जिस्म होती तो वह मरती? शायद ही नहीं बल्कि निश्चित रूप से ऐसा कभी न हुवा होता।

स्व. धूमिल की एक अंगरेज कवि गिंसबर्ग से दोस्ती की बात कही गयी है। हो सकता है उसने अपने अंगरेज मित्र से कभी सुना हो कि स्त्री केवल 'फ्लेश' *(गोश्त) होती है जिसका अनजाने में उसने कविता में 'औरत एक देह है' के रूप में* अनुवाद करके रख दिया हो जो भी हो, स्व. धूमिल की नारी सम्बन्धी धारणाएँ और यौन-जीवन की समस्याएँ अधूरी और अवास्तविक दिखाई देती है। परन्तु मैं पुनः कहना चाहूँगा कि यह उसकी समझ में खोट होने का या समझ की अपरिपक्वता का प्रमाण या लक्षण नहीं है। अपनी कविताओं में उक्त विषय पर लिखने का उसका प्रयोजन ही अलग था। वह अपने प्रयोजन में पूरी तरह सफल हुवा है। समकालीन जीवन की अव्यवस्था की वास्तविकता को पाठकों के गले उतारने के *लिए जहाँ उसने राजनीतिक और सामाजिक जीवन के विद्रूप पक्ष को चुना वहीं* यौन-जीवन के कुरूप को भी चुना। यदि यौन-जीवन को समस्याओं से घिरा चित्रित करना हो तो नारी को देवी बनाकर तो नहीं किया जा सकता था। खेद केवल इसी बात का है कि अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए उसने नारी के प्रति अनावश्यक रूप में *अनुदारता से काम लिया है।*

अष्ठम अध्याय

मेरी नजर में हर आदमी एक जोड़ी जूता है

स्व धूमिल की कविता 'मोचीराम' के वग वादी विचारा म मुझे कोई अविश्वास नहीं था। परन्तु मोचीराम की दार्शनिकता के प्रति थोडी-सी आशका थी। वस्तुत मरे देहाती मन का सस्कार इस आशका के पीछे था। दहाता म दार्श निकता माचीराम के साथ नही नाईराम' के साथ जुडी रहती है (थी!)। नाईराम की जिज्ञासा सबसे अधिक प्रसिद्ध थी। उसके पास गाँव (वालो) के अद्भुत भेद होते थे और पचतत्रीय रोचकता पर मात करने वाले किस्से होते थे। आज वह (नाईराम) चरित्र देहाती जीवन-पट से लुप्तप्राय है। नाई-कम करन वाला वग है देहाता म परन्तु नाई चरित्र की रक्षा करने वाला कोई नहीं। इसका एकमात्र कारण है चुनावा को राजनीति के अभिशाप क कारण देहातो म उत्पन्न हुई गुट बन्दी। खैर, मैं 'माचीराम' की बात करना चाहता हूँ। यह एक शहरी वग चरित्र है। 'नाईराम' का भी शहर म आगमन हुआ परन्तु रेडिया पर प्रसारित हान वाल गीता ने और शहरी व्यक्तित्व की अपने म ही सिमटे रहने की प्रवृत्ति ने उसकी किस्सागोई का खत्म कर दिया है। मोचीराम रेडिया की इस क्रूरता से मुक्त है।

मोचीराम की दार्शनिकता म मेरा अकारण उभरा सदेह दो घटनाओ से टूटा था। आज के विख्यात साप्ताहिक धमयुग के किसी अक म बिहार के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री कपू री ठाकुर के पूज्यपाद पिताजी की कमठता की कहानी छपी थी। अपन सुपुत्र के मुख्यमत्री बनने पर भी उन्हाने अपन पारम्परिक नाई क पश स जुडे रहन का जा निश्चय निभाया था नि सन्देह रूप से वह सराहनीय था। एस कमठ लागो का व्यवहार एव सुचिन्तित जीवन दशन का अनुसरण करता है। उसी की चाह ता दार्शनिकता कह लो। दूसरी घटना इधर क एक शहर (लातूर) म घटित हुइ थी। मैं अपन दहात से शहर (औरगाबाद) लौट रहा था। लातूर म कुछ घट रुकना पड़ा तो सोचा कि अपन देहात क बन जूता को चमकादर, शहरवासिया की

नजरो मे अपनी बेढब आकृति के साथ-साथ बेनूरी के कारण भी खटकने से बचा लूँ। शरीरो को अपने मे लिपटकर भी अग-प्रत्यगो की प्राकृतिक बनावट का प्रदर्शन करने मे बेजोड, किसी विशेष किस्म के वस्त्रो का विज्ञापन करने वाला एक बहुत बडा 'बोर्ड', सडक के एक किनारे पर लगा था। उसी की छाया मे 'फुटपाथ' पर बैठे एक 'मोचीराम' के पास जूतो पर पालिश करवाने पहुँचा। उससे बातें करने पर मैं इस बात पर हैरान था कि वह कितनी प्रमस्त्रित-धारा-प्रवाहित हिन्दी बोल लेता है। जिज्ञासा-वश मैंने जानना चाहा कि उसका जीवन कैसा है। मेरे कुछ प्रश्नो के उत्तरो से उसका जो चरित्र उभरा वह अद्भुत था। वह (मोचीराम) एक ऐसे बगले का स्वामी था, जिसकी लागत आधे लाख रुपियो से एक पैसा भी कम न थी। उसका एक बेटा डी आई जी (पुलिस) और दूसरा मेडीकल कालेज मे 'रीडर' था। दोनो मिलकर प्रतिमास पिता के पास उनके खर्चे के लिए जो पैसा भेजते रहते थे उसी मे से उक्त बगला बन गया था। उसके जीवन-यापन का खर्च तो 'फुटपाथ' पर होने वाले धधे से निकल आता था। उस 'मोचीराम' ने श्रम की आवश्यकता और महत्ता तथा प्रतिष्ठा पर अपने विचार जिस तर्कशुद्ध पद्धति से और विशुद्ध भाषा मे रखे थे, किसी भी दार्शनिक से कम न थे। उन विचारो को सुनकर मुझे लगा था कि चाहे अर्जुन प्रत्यक्ष युद्ध क्षेत्र मे श्रीकृष्ण से गीता सुनकर, युद्ध के लिए तैयार हुआ हो या न हुवा हो परन्तु स्व धूमिल को किसी वास्तविक मोचीराम से हुई उसकी भेंट ने उक्त कविता 'मोचीराम' लिखने पर विवश किया होगा। उक्त कविता का दार्शनिक प्रकृति वाला 'मोचीराम' इसीलिए कल्पना की सृष्टि नही बल्कि वास्तविकता पर आधारित चरित्र लगता है। 'मोचीराम' कविता की कई विशेषताएँ हैं। इसने अपने कवि स्व धूमिल को 'साम्यवाद' के प्रति प्रतिबद्धता तक पहुँचा हुआ मानने पर, कभी आलोचको को विवश किया था परन्तु फिर इसी कविता ने कवि के मार्क्सवादी चिंतन के अधूरेपन का भी आलोचको को एहसास करा दिया।

पिछले पृष्ठो मे मैंने किसी भी विषय के विवेचन के प्रसग मे इस कविता की चर्चा नही की है। एकाध स्थान पर उल्लेख अवश्य किया है। यह दो कारणो से सभव हुआ है। महत्वपूर्ण कारण तो यही है कि इस कविता का कथ्य दूसरी कविताओं से अलग है और दूसरी कविताओ की तुलना मे यह (कथ्य) विषय प्रतिपादन की दृष्टि से अधिक एकान्वित है। मैं इसी विशिष्ट कविता के आधार पर कवि के वर्गवादी चिन्तन का स्वरूप स्पष्ट करना चाहता हूँ।

स्व धूमिल ने जब 'मोचीराम' कविता लिखी थी उन दिनो मे प्रगतिवाद का साम्यवाद के प्रति समर्पित होने का आकर्षण समाप्त हो चुका था। परन्तु साम्यवाद की महत्ता सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए अस्वीकृत नही हो गयी थी। जहाँ-जहाँ और जब-जब आर्थिक दृष्टि से विषम सामाजिक वर्ग अस्तित्व मे आते रहे हैं वहाँ

साम्यवादी विचारधारा की ओर लाखों करोड़ों लोगों में आकर्षण उत्पन्न हुआ है। इस आकर्षण का कारण साम्यवाद के केन्द्र में स्थित मार्क्सवादी दर्शन की शास्त्र शुद्धता या वैज्ञानिकता की अपेक्षा मानव मन की सहज प्रतिक्रिया है। मार्क्सवादी चिन्तन की जिसने पूँछ भी नहीं देखी हो वह भी वर्गभेद और वर्ग संघर्ष की बातें अवश्य करता है। समाज में व्याप्त किसी भी प्रकार की विषमता के प्रति उद्वेग की भावना किसी भी साधारण समझदार की स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है। ऐसी स्थिति में हम यदि हर किसी उद्विग्न, प्रक्षुब्ध और साहसी वक्तव्य के साथ मार्क्सवादी प्रभाव को जोड़ते रहे तो बड़ी विचित्र स्थिति उत्पन्न होगी। मार्क्स के बाद दुनिया के किसी भी कोने में यदि कोई विचारक सामाजिक वर्गों की ओर वर्गों में देखी जाने वाली विषमताओं की बात करे तो उसे अनिवार्यतः मार्क्सवादी चिन्तन से प्रभावित करना कम हास्यास्पद नहीं होता। वैसे इससे पहले किसी अध्याय में मैंने कल्पनाओं भावों की सार्वभौमता और सार्वकालिकता की चर्चा की है। उसे यदि विचारों की सार्वभौमता और सार्वकालिकता के रूप में देखें तो भी कोई अनर्थ नहीं होगा। यह मैं यहाँ पुनरुक्ति के दोष का भागी बनने की संभावना को समझकर भी लिख रहा हूँ। इसके लिए एक कारण है—कार्ल मार्क्स से पहले ही यदि किसी ने एक समाजवादी साम्यवादी शासन की कल्पना प्रस्तुत की हो तो उसे किसके साथ जोड़ेंगे? यह प्रश्न हेतुतः खड़ा हो रहा है। क्योंकि इधर, मेरे प्रदेश महाराष्ट्र में ऐसी एक घटना का लिखित और अकाट्य प्रमाण उपलब्ध है। कार्ल-मार्क्स का 'दास कपिटल' ग्रंथ प्रकाशित होने से कई वर्ष पहले यहाँ के एक मनीषी, चिन्तक निबन्धकार ने 'सुखद शासन-सम्बन्धी विचार' नामक ग्रंथ लिखा। ग्रंथ को मैं इसलिए अवतरण चिह्न में रख रहा हूँ कि वह एक निबन्ध रूप में लिखा गया था। उस ग्रंथ में कार्ल मार्क्स के साम्यवादी सिद्धान्तों की प्रायः सभी महत्वपूर्ण परिकल्पनाएँ विद्यमान थीं। उक्त मनीषी का नाम था 'विष्णुबोवा ब्रह्मचारी'। उन्होंने अपनी रचना पहले मराठी में लिखी। बाद में उसे अंगरेजी में अनूदित किया। उसकी सैकड़ों प्रतियाँ छापकर इंगलैंड की लोकसभा (पार्लियामेंट) में वितरित कर डाली। तो क्या उस विचारक पर मार्क्स का प्रभाव सिद्ध किया जा सकता है? या कार्ल मार्क्स पर उक्त विद्वान के अंग्रेजी ग्रंथ का प्रभाव सिद्ध किया जा सकता है? उक्त महाराष्ट्रीय विद्वान की अच्छी (शासन-सम्बन्धी) धारणाएँ उसके समकालीन विदेशी कुशासन की प्रतिक्रियाओं के रूप में उद्भुत हुई थी। वे सकल्पनाएँ उसकी अपनी परिस्थिति की उपज थीं। वह एक ऐसी भाषा का ग्रंथकार था जो नेटिवों की थी। यदि वही चिन्तन किसी स्वाधीन और प्रगत देश की प्रगत भाषा में प्रकट होता तो सकता है अंगरेजों के शासक साम्राज्य का अस्तकाल बीसवीं शती में भी बहुत लम्बा न खिंचता!

परिस्थिति और परिवेशजन्य वैचारिक सिद्धान्तों की भी अपनी कुछ सीमाएँ होती है। मार्क्स के विचारों को भी इस नियम का अपवाद नहीं कहा जा सकता। उसका चिन्तन मूलत औद्योगिकी में प्रगत राष्ट्रों के लिए है। उसमें श्रमिकों का मतलब बहुत हद तक कल-कारखानों में काम करने वाले से सम्बद्ध है। रूस में तो उसके दर्शन का प्रभाव, साधारण परिवर्तनों के बाद काम कर गया। चीन पहुँचने पर उसके श्रमिक वर्ग में कृषकों को भी समविष्ट करना अनिवार्य हुआ। हमारे देश में तो वह दर्शन प्राय निष्प्रभ होकर रहा। जिस 'मोचीराम' कविता को मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित कहा गया उसका आधार कवि का 'वर्ग-बोध' रखा गया। मोचीराम के पास मरम्मत के लिए पहुँचने वाले जूतों को आधार मान कर आलोचक कविता में एक से अधिक सामाजिक वर्गों के चित्रण होने का दम भरने लगे। यह एक दुर्बल सत्य था। मैं मानता हूँ कि चकत्तियों वाले जूतों में और चकत्तियाँ लगवाने के लिए आने वालों में और केवल जूते चमकाने के लिए तथा भ्रातियों-जातियों को बदर की तरह घूरने वालों में सामाजिक दृष्टि से वर्ग-भेद है और आर्थिक दृष्टि से उन दो वर्गों में विषमता भी है। मोचीराम के पास पहुँचने वाले ग्राहकों के वर्गों के अतिरिक्त एक और वर्ग की कल्पना कुछ आलोचक करते हैं। उनके विचार में ऐसे वर्ग के लोग अपने जूतों को नौकरों के हाथ चमकाकर मगवा लेते हैं, वे खुद मोचीराम तक नहीं पहुँचते। यह वर्ग सभवत ऐसा सम्भ्रात और सम्पन्न भी हो सकता है कि जूतों की मरम्मत और पालिश करवा कर उन्हें पहनने की बजाय हर समय नये जूते ही खरीदता हो।

उपर्युक्त सभी परिकल्पनाएँ इस देश के सामाजिक वर्गों से मेल नहीं खाती। यदि कोई ऐसे वर्गों के साक्षात् प्रमाण प्रस्तुत करे तो विवश होकर स्वीकारना पड़ता है कि आलोचकों का कहना ठीक है। फिर भी एक ऐसी खोट उनके सोचने में रह जाती है जिसे जानने पर उनकी सारी कल्पनाएँ ही बेकार की लगने लगती हैं। हमारे समाज में एक ऐसा भी वर्ग है जो जीवनभर मोचीराम के पास पहुँचता ही नहीं। क्योंकि उस वर्ग के लोगों को जूते पहनने की विलासिता (!) आमरण नसीब नहीं होती। जिन दिनों धूमिल ने उक्त कविता 'मोचीराम' लिखी उन्हीं दिनों एक बात बड़ी जोरों पर प्रचारित और प्रसारित होती रहती थी। उन दिनों यहाँ के लोग कहते-सुनते और विश्वास करते थे कि अमरीका के प्रति दो व्यक्तियों में एक कार है परन्तु भारत में प्रति जोड़ी पाँव के लिए एक जूता भी नहीं है। ऐसा सामाजिक वर्ग बहुत बड़ा था। इतना बड़ा कि जूता पहनने वालों से भी संख्या में अधिक तो ऐसे वर्ग का कविता में कोई उल्लेख न होना कवि धूमिल के शहरी प्रभाव और देश के दूरदराज में फैली दरिद्रता की वास्तविकता के प्रति अभिज्ञता का परिचायक नहीं तो और क्या कहलाएगा ?

मोचीराम' कविता के साथ स्व धूमिल का शहरी बोध संलग्न है। इस कविता के सिवा एक और कविता में मोचीराम की उपस्थिति देखी जा सकती है। पटकथा' में भी कवि ने एक ऐसे मोची का चित्र प्रस्तुत किया है जो 'चौक से गुजरते हुवे देहाती को बड़ प्यार से बुला कर जूतों की मरम्मत के नाम पर रबर के तल्ले मे लाहे की तीन दर्जन फुल्लिया ठोंकता है और डाट डपट कर पैसा वसूल करता रहता है।' उसके उस व्यवहार में शहरीवासियो की चालाकी और निर्दयता का समन्वित रूप देखने को मिलता है। 'मोचीराम कविता से बाहर जूता का भी एक दो बार धूमिल ने वर्णन किया है। एक तो एकान्त म किसी व्यक्ति के आत्म शोध के क्षण म अपना ही व्यवहार कैसा घिनौना लगता है यह बताने के लिए 'जूतों से निकाल गये पैरो का महकना वर्णित हुआ है जिसका उल्लेख मैं व्यग्य बोध के विवेचन मे कर चुका हूँ

केवल मोचीराम' का ही जूता देखकर सामाजिक वर्गभेद की भावना सताती है यह बात नहीं जूता को देखकर एक कुत्ता क्या सोचता है ? इस प्रश्न को लेकर भी धूमिल बड़ा ही दार्शनिक अदाज म लिख जाता है—

> उसकी (कुत्ते की) सही जगह तुम्हारे पैरो के पास है
> मगर तुम्हारे जूता म
> उसकी कोई दिलचस्पी नहीं है।
> उसकी नजर
> जूते की बनावट नही देखती
> और न उसका दाम देखती है
> वहाँ, वह सिर्फ बित्ता भर
> मरा हुआ चाम देखती है
> और तुम्हारे पैरो से बाहर आने तक
> उसका इतजार करती है
> (पूरी आत्मीयता से)
>
> (स 77)

स्व धूमिल के विचारो को मोचीराम कविता के आधार पर वर्गवादी या साम्यवादी दर्शन के साथ जोड़ने की चाहे जो भी तार्किक युक्तियुक्तता हो, मेरी समझ मे वह एक अनावश्यक सा काम है। वैसे भी कवि का साम्यवादी दर्शन का अध्ययन इतना गहन होने का तो कोई प्रमाण नहीं मिलता कि जो उस उसके बोध प्रतिबद्ध बना डाले। उसकी कविताओं म भी कहीं लाल रूस के प्रति अधनिष्ठा या चीनी भाई के प्रति सवेदना का स्वर नहीं सुनायी देता।

यदि कवि समाज के श्रमजीवी वर्ग से घनिष्ट था तो क्या कारण है कि उक्त श्रमजीवियों की सत्ता के पक्षपाती दर्शन की ओर उसका अधिक झुकाव नही रहा ? जहाँ तक मैं सोच पाया हूँ, मुझे लगता है कि धूमिल जनतत्र के प्रति चाहे जितना अनास्थाभाव भले ही प्रकट कर गया हो, उसने कभी भी जनतत्र की अपनी समकालीन व्यवस्था का विकल्प साम्यवादी देश की शासन पद्धति को नही माना था। वैसे भी जनतत्र राजनीतिक व्यवस्था है और साम्यवाद आर्थिक व्यवस्था है। साम्यवाद भला ही आर्थिक समता लाने के लिए उत्पादक साधनो पर श्रमिको का स्वामित्व और उस स्वामित्व की स्थापना के लिए शासन का अधिकार श्रमिको के हाथो मे सौंपने की व्यवस्था मे विश्वासी हो, परन्तु अन्तत उसका लक्ष्य दडहीन (शासक और शासितो के वग से रहित) समाज रचना की स्थिति मे पहुँचना है। वैसे बात उतनी जटिल बनाने की आवश्यकता नही है। एक और कारण देकर इस चर्चा को समेटना चाहूँगा।

स्व धूमिल के रचना-काल तक आते-आते यहाँ के बुद्धि-जीवियो का इस बात का एहसास हो चुका था कि स्वय साम्यवादी दर्शन भी ऐतिहासिक विकासक्रम के सिद्धान्त के अनुसार पुराना पड गया है। जनतत्रीय शासन-पद्धति का आज का विकास सच्चे और व्यवहारिक अर्थ मे मार्क्स के चिन्तन के प्रसृत होने के बाद की घटना है। यदि मार्क्स के चिन्तन का स्वरूप भी एकदम भिन्न होता। राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए मार्क्स हिंसा को उपयुक्त साधन शायद ही मानता। वैसे मार्क्सवाद के कट्टर समर्थक यह आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करते रहते है कि मार्क्स ने यह भी कहा है कि 'यदि सभव हुआ तो अहिंसा से भी राजनीतिक सत्ता को हथियाना चाहिये।' परन्तु वास्तविकता यही है कि मार्क्स का विश्वास हिंसा मे अधिक है। इससे कोई इन्कार नही कर सकता।

'मोचीराम' कविता के वैचारिक भूमिक को स्पष्ट करने से पहले मैं एक और विशेषोल्लेखनीय बात को लिखना चाहूँगा। यदि धूमिल के रचनाकाल तक यहाँ के रचनाकार बुद्धि-जीवियो का मार्क्सवाद के प्रति मोह कम हुआ था तो क्या कारण है कि 'मोचीराम' जैसी कविता लिखने की कवि ने आवश्यकता समझी ? वैसे मार्क्सवादी चिन्तन का प्रभाव यहाँ के रचनाकारो के मन मे शिथिल हो गया हो तो भी उसकी उपयुक्तता को पूरी तरह से वे अस्वीकृत नही कर सके थे। धूमिल के रचना-काल की बात क्यो, आज भी हम नहीं कह सकते हैं कि मार्क्सवादी दर्शन एकदम निरुपयोगी और रद्दी है। वास्तविकता तो यह है कि मानवी संस्कृति के विकास व इतिहास का हर चरण विगत की वस्तु बनकर भी आगत और अनागत के लिए अनुपयुक्त सिद्ध नही होता। क्योकि एक तो इतिहास की पुनरावृत्ति होती रहती है और हर देश के समाज की स्थिति के परिवर्तन का समय एक ही नही

होता। मार्क्स के दर्शन का व्यावहारिक सफलता या विफलता जिस देश में मिली हो उस देश के लोगों की उक्त दर्शन के बारे में धारणाएँ बिल्कुल अलग अलग हो सकती हैं परन्तु जिन देशों की जनता अपनी वर्तमान विषमता की दलदल से बाहर आने के लिए उक्त दर्शन को साधन मानती हो उसकी दृष्टि में उसके प्रति नितान्त अलग-अलग धारणाएँ हो सकती हैं। आज राष्ट्रों की विकसित विकासशील श्रेणियाँ बन गयी हैं तो हर स्थिति वाले राष्ट्र की जनता में मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति विकर्षण अनाकर्षण और आकर्षण की भावना हो सकती है। इसी भावना के वश में होकर रचनाकार भी अपनी रचनाओं में उक्त दर्शन का प्रभाव स्वीकार करता है।

इसी सम्भावना को ध्यान में रखकर स्व धूमिल की लिखी कविता 'मोचीराम' को वर्गवादी भावना के संदर्भ में देखना कोई अनुचित बात नहीं है। यह स्वीकारते हुए भी कि कवि का उद्देश्य भले ही वर्गवादी विचारों का प्रचार करने का नहीं रहा हो उक्त कविता में अवश्य ही कुछ सामाजिक वर्गों का चित्रण हो गया है। कविता का आरम्भ ही बड़े नाटकीय ढंग से हुआ है। आरम्भ की ही पंक्तियाँ हैं—

> राँपी से उठी हुई आँखों ने मुझे
> क्षणभर टटोला
> और फिर
> जैसे पतियाये हुए स्वर में
> वह हँसते हुए बोला—
> बाबूजी ! सच कहूँ—मेरी निगाह में
> न कोई छोटा है
> न कोई बड़ा है
> मेरे लिए, हर आदमी एक जोड़ी जूता है
> जो मेरे सामने
> मरम्मत के लिए खड़ा है
>
> (स 41)

इन आरंभिक पंक्तियों में ही कवि अपनी कविता के मूलभाव को स्पष्ट कर देता है। स्पष्ट है मोचीराम की इस आकस्मिक दार्शनिकता भरी बात से पहले बहुत कुछ बातें होती रही होंगी और उनमें यह पूछा गया होगा कि 'कहो मोचीराम जी, क्या तुम ग्राहक देखकर और ग्राहक की हैसियत देखकर काम करते और दाम ऐंठते नहीं हो ? इस प्रश्न में छिपे ग्राहकों में भेदभाव करने के अप्रत्यक्ष अभियोग से मुक्त होने के लिए मोचीराम ने अपनी सफाई पेश की हो जिसके अन्तर्गत उसने उक्त 'हर आदमी को एक जोड़ी जूता समझने' का अपना समतावादी दृष्टिकोण

प्रस्तुत किया हो। लेकिन गडबडी यह हुई है कि मोचीराम मनुष्य-मनुष्य में अभेद भाव का उद्घोष करके भी वर्गभेद की कल्पना से अपने को अलग नहीं रख सका है। उसे विवश होकर स्वीकारना पडता कि उसके 'पेशेवर हाथो और 'फटे हुवे जूतो, के बीच एक आदमी का अस्तित्व अवश्य होता है। उसी आदमी का उसे हमेशा खयाल रहता है। उसी आदमी के साथ वह सवेदनशील है। उसी ने उसकी समवेदना भी प्रकट हो जाती है। कवि के शब्दो मे —

> 'फिर भी मुझे ख्याल रहता है
> कि पेशेवर हाथो और फटे हुए जूतो के बीच
> कही न कहीं एक अदद आदमी है
> जिस पर टाँके पडते हैं,
> जो जूते से झाँकती हुई अगुली की चोट छाती पर
> हथौडे की तरह सहता है'
>
> (स 41–42)

कविता की भावुकता उक्त पक्तियो के बाद मोचीराम के पास पहुँचने वाले लोगो के प्रकारो का व्यग्यात्मक वर्णन करते मे बदल जाती है। वह अपने ग्राहको की 'अपनी–अपनी शक्ल' और 'अपनी–अपनी शैली का वर्णन भी जूतो की शक्ल और शैली से मिलाकर करने लगता है। 'चकत्तियो की शैली' जैसा जूता मरम्मत के लिए ले जाने वाले ग्राहक का चेहरा 'चेचक दा जुना हुआ' होता है। और उनकी हँसी 'उम्मीद की तरह देती–सी है। उसका जूता मरम्मत करने के बावजूद बहुत दिन काम मे आने लायक नहीं होता परन्तु उस ग्राहक की उस जूते को मरम्मत करवाने के बाद चलने की आशा को ठीक तरह भाँप कर मोचीराम उसकी मरम्मत कर देता है। ऐसे समय एक क्षण भर के लिए उसके मन मे यह अवश्य आता है कि वह ग्राहक से कह दे कि उस जूते की मरम्मत पर पैसा बर्बाद करना है परन्तु उसकी अतरात्मा उससे पूछती है—कैसे आदमी हो, अपनी जाति पर थूकते हो ?' और फिर वह बडे ही मनोयोग से उस जूते की मरम्मत का काम कर डालता है। यहाँ यह बात विशेषोल्लेखनीय है कि मोचीराम को सबसे पहले 'अपनी जाति का खयाल आता है। अपनी जाति का यहाँ सीधा अर्थ तो दरिद्र वर्ग से ही सम्बन्ध माना जा सकता है। गरीबो के जूतो की मरम्मत मे 'चकत्तियो की जगह अपनी आँखें टाँकने वाला मोचीराम शोषित, अभावग्रस्त, दलित, पीडित, दरिद्र वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में अकस्मात पाठको के मन मे उभर आता है।

मोचीराम के पास पहुँचने वाले ग्राहकों के दूसरे वर्ग के बारे मे उसका विचार बिल्कुल ही अलग किस्म का है। उस वर्ग के बारे में उनके मन में कोई सहानुभूति, कोई संवेदना नहीं होती। इस प्रकार की उसकी मानसिकता उक्त

(दूसरे वर्ग के) ग्राहक के उसके साथ किये जाने वाले व्यवहार की प्रतिक्रिया मात्र होती है। उक्त वर्ग के व्यक्ति के आचरण का वर्णन करने में यथार्थ व्यंग्य और नाटय का अद्भुत मेल बन हुआ है। वह जूता 'बाँध कर आने वाला ग्राहक-वर्ग है। जूता पहनने वाला और जूता बाँधने वाला बिल्कुल अलग अलग वर्ग के प्रतिनिधि हैं। पहला अभावों में जीने वालों का प्रतीक है तो दूसरा अभावरहित जीवन बिताने वालों का प्रतीक है। यहाँ दोनों वर्गों के नीचे और ऊपर और दो वर्ग होते हैं परन्तु उनके प्रति मोचीराम इसलिए अभिज्ञ है कि उस वर्ग के लोग उसके ग्राहक बनकर उसके पास पहुँचते ही नहीं। इसका संकेत मैंने पहले ही किया है। यहाँ इसलिए उसको दोहराना पड़ा है कि मोचीराम की दृष्टि में समाज के केवल दो ही वर्ग होने की बात की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित हो जाय। इस पहनने और बाँधने के जूतों के प्रकारों से ही इन दो सामाजिक वर्गों में विभक्त लोगों के बारे में बहुत कुछ कहा गया है। दूसरे वर्ग के ग्राहक मोचीराम के पास पहुँच कर उससे अपने मन की समाधानी तक काम करवाते हैं परन्तु दाम देते समय साफ नट जाते हैं। इस वर्ग का ग्राहक केवल मोचीराम को कम मजदूरी देकर ही अपने दुर्व्यवहार का परिचय देता हो यह बात नहीं। वह तो मोचीराम को आदेश देता है, सड़क पर आती जाती औरतों को घूरता जाता है और झूठी व्यस्तता का, हड़बड़ी का दिखावा करता है। यह ग्राहक मोचीराम के मत में न समय का पाबन्द होता है और न ही अकलमन्द होता है। अपनी सुखी जिंदगी का रौब गाँठने के लिए वह साधारण-सी गर्मी में भी मौसम के नाम से रोता जाता है और बार-बार पसीना पोंछता जाता है।

ऐसे दूसरे वर्ग के ग्राहक के जूतों की मरम्मत करने में मोचीराम मनोयोग से काम ले ही नहीं सकता। परिणामतः जूते में एकाध कील ऐसी रह ही जाती है जो उस दामों देने में नटने वाले को बराबर चुभती है। मरम्मत किये गये जूते में चुभने वाली कील का रह जाना पेशे के साथ बेईमानी होना कहला सकता है। क्योंकि हम लोग व्यवहार में अक्सर कहते रहते हैं कि मोलभाव कर लेने पर नाप-तौल में कम देना सबसे बड़ी अनैतिकता है। परन्तु यह भी सच है कि व्यवहार में पहले ही दाम तय किये बिना भी कुछ काम करने करा लेने का रिवाज है। उस व्यवहार में काम करने वाले की अपेक्षा करवाने वाले की समझ और नैतिकता अधिक आवश्यक होती है। हिटलर मुसोलिनी जैसे तानाशाहों की तरह मोचीराम से आदेश पालन करवा कर एक घंटे तक उसे सस्ता कर यदि कोई 'दामों देने में आनाकानी करे और परिश्रम का उचित दाम न देकर निकल जाय तो मोचीराम के हाथों मरम्मत किये गये जूते में एकाध कील चुभने वाली रहे तो उसमें उस बेचारे का क्या दोष? बस इस वह असावधानी का परिणाम भी पुकार सकता है परन्तु धूमिल का मोचीराम अपने व्यवहार को उचित ठहराने के लिए तर्क देता है। और यहीं तक उसकी दृष्टि

मे 'सही' है और इसी तक पर चलने वाली उसकी जिंदगी भी सही है। तक यही है कि 'जैसा दाम वैसा काम' कोई अनैतिकता नही है। अपने इसी व्यवहार को तर्क-सम्मत ठहराते हुए मोचीराम कहता है—

> 'और बाबूजी ! असल बात तो यह है कि जिंदा रहने के पीछे
> अगर सही तक नही है
> तो रामनामी बेचकर या रडियो की
> दलाली करके रोजी कमाने मे
> कोई फर्क नही है'
>
> (स० 44)

और फिर इस प्रसग के बाद कवि मनुष्य-मनुष्य के बीच के भेदभाव को अयुक्तियुक्त बताने के लिए मोचीराम से कुछ युक्तियाँ प्रस्तुत करवाता है। इन युक्तियो का सबसे बडा तक यही है कि किसी की जाति-पाँति और उसकी सवेदन-शीलता का कोई सबध नही होता। एक तथाकथित छोटे समझे जाने वाले पेशे से जुडे और तथाकथित छोटी समझी जाने वाली जाति से सम्बन्धित व्यक्ति को जीवन के सुख दुख एक-से ही भोगने पडते है। बसत का उल्लास दोनो को एक सा ही प्रभावित करता है। यदि अन्तर ही कोई हो सकता है तो इस ऋतु का सौदय-बोध और उस बोध की अभिव्यक्ति अलग-अलग हो सकती है। हर कोई अपने पेशे से प्रभावित होकर उक्त बोध को ग्रहण करता है और अनुभव को अभिव्यक्ति देता है। इस सिद्धात को कवि अनायास ही इन पक्तियो मे—मोचीराम के वक्तव्य मे—स्थापित करता है—

> अब आप इस बसत को ही लो,
> यह दिन को ताँत की तरह तानता है
> पेडो पर लाल-लाल पत्तो के हजारो सुखनल्ले
> धूप मे, सीझने के लिए
> लटकाता है
>
> (स० 45)

ऐसी ऋतु मे मोचीराम को काम करना उतना ही कठिन हो जाता है जितना किसी तथाकथित सभ्रान्त व्यक्ति के मन पर बसन्त की सुन्दरता की खुमारी चढ जाने पर उसके लिए किसी भी काम मे दत्त-चित्त होना कठिन हो जाता है। धूमिल का मोचीराम कहता है—

> सच कहता हूँ—उस समय
> राँपी की मूठ को हाथ मे सँभालना

मुश्किल हो जाता है
आँख कहीं जाती है
हाथ कहीं जाता है
मन किसी झुंझलाए हुए बच्चे-सा
काम पर आने से बार-बार इनकार करता है
लगता है कि चमड़े की शराफत के पीछे
कोई जंगल है जो आदमी पर
पेड़ से वार करता है

(स० 45)

मोचीराम का उक्त सौंदर्य बोध उसी के पेशे के अनुभवों पर ग्राह्य होता है। मैं सोचता हूँ इस—बोध में कहीं अधिक प्रामाणिकता है। कम से कम मुझ-से व्यक्ति के—बोध से अधिक ईमानदारी उसमें है। मुझ सा पठित व्यक्ति सृष्टि के सौंदर्य के नाम पर उत्तुंग हिम शिखर, कमल पुष्पों से भरे सरोवर आदि की सैकड़ों बार रट लगाता है जबकि वस्तुस्थिति यह होती है कि मेरी सौ पूर्व पीढ़ियों में से किसी भी भाग्यवान ने उक्त सुंदर वस्तुओं के दर्शन नहीं किए होते। और मेरा भी उन्हें देखने का अनुभव पुस्तकों में छपे उनके रंगीन चित्रों या फिर फिल्म विल्म में देखे दृश्यों की सीमा से आगे नहीं बढ़ता!! फिर भी मुझ-सा शिक्षित मोचीराम की सौंदर्यानुभूति को महत्व की दृष्टि से देखने को तैयार नहीं होता। ऐसी ही विसंगति पर कटाक्ष करते हुए धूमिल का मोचीराम कह उठता है—

'और यह चौंकने की नहीं, सोचने की बात है
मगर जो जिंदगी को किताब से नापता है
जो असलियत और अनुभव के बीच
खून के किसी कमजात मौके पर कायर है
वह बड़ी आसानी से कह सकता है
कि यार! तू मोची नहीं शायर है
असल में वह एक दिलचस्प गलत फहमी का
शिकार है
जो यह सोचता है कि पेशा एक जाति है
और भाषा पर
आदमी का नहीं किसी जाति का अधिकार है

(स० 45-45)

मोचीराम की उक्त पंक्तियों में धूमिल की वर्गवादी चेतना की अपेक्षा वर्ग-विहीन सामाजिक कल्पना प्रस्फुटित होती है। सामाजिक वर्गों की अस्वीकृति ध्वनित

होती है। वह भी आर्थिक समानता के बल पर वर्गविहीन समाज के निर्माण की कल्पना से अधिक ठोस आधार पर, सामाजिक समता की कल्पना इससे प्रस्तुत होती सी लगती है। भाषा यहाँ अनुभूतिजन्य ज्ञान का और अभिव्यक्ति का प्रतीक बनकर आयी है। भाषा पर अधिकार की समस्या इस देश की कई सनातन समस्याओ मे से एक है। यहाँ सहस्त्रो वर्षों तक भाषा पर एक वर्गविशेष का एकछत्र अधिकार रहा था। वह वर्ग स्वय को समाज का सर्वोपरि अग होने का विश्वास पालता था। तभी से तथाकथित जनसाधारण से भाषा और ज्ञान की प्राप्ति का अधिकार छिन-सा गया था। उस अधिकार को आधुनिक युग मे स्थापित किया गया। इस अधिकार की प्राप्ति का एहसास 'मोचीराम' जैसे तथाकथित छोटी जाति और छोटे पेशे मे पडे व्यक्ति को कराकर धूमिल ने अपने प्रगतिशील चिन्तन का अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया है। किसी कुल–विशेष मे जन्म लेने का अधिकार व्यक्ति के हाथ मे तो होता नही। कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से जाक-जननी चुन नही सकता परन्तु वह अपना जीवन-दर्शन तो स्वत निर्माण कर सकता है। अपनी योग्यता के बल पर आत्मविकास कर सकता है। भाषा और ज्ञान-विज्ञान पर अधिकार प्राप्त कर सकता है। इस काम मे उसकी जाति रोडा बन नही सकती।

भाषा पर हर किसी का अधिकार होने का मोचीराम द्वारा विश्वास प्रकट करना धूमिल की मौलिक चिन्तना का प्रमाण है। अर्थ और भौतिक सुख-सुविधा-भोग मे तो तथाकथित छोटा वर्ग सभ्रान्त वर्ग की बराबरी के अधिकार के लिए सघर्ष करता रहा है परन्तु धूमिल का मोचीराम सभवत पहला व्यक्ति है जो अनुभूति और अभिव्यक्ति की प्रतीक, भाषा पर सभी का समान अधिकार होने का विश्वास प्रकट करता है। इस अधिकार का आधार बताते हुवे मोचीराम कहता है—

> 'जबकि असलियत यह है कि आग
> सबको जलाती है सचाई
> सबसे होकर गुजरती है
>
> (स० 46)

यह तो एक अवसर की बात है कि उक्त सभी लोगो मे—

> 'कुछ हैं जिन्हे शब्द मिल चुके है
> कुछ हैं जो अक्षरो के आगे अधे है'
>
> (स० 46)

इन्ही शब्दो को प्राप्त करने वाले और शब्दो के आगे अधे लोगो के दो वर्ग समाज मे देखे जाते हैं। इनमे पहला वर्ग–(जिसे चाहे तो बुद्धि-जीवी कह लो)—

जीवन म सभी प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त करने की तरकीबें जानता है और दूसरा वर्ग इस बारे म अनाड़ी होता है। परिणामत यह दूसरा वर्ग, जिसे समझ की सुविधा के लिए श्रमिक वर्ग कह लो जीवन म सभी प्रकार की सुविधाएँ भोगता है, दुख उठाता है। हर तरह का अन्याय सहता है। क्योंकि उसे अपनी भूख की समस्या से जूझना पडता है। इसका अर्थ यह नही कि दोनो वर्गों के जीवन की उपलब्धियो म कोई बहुत बडा अन्तर होता हो। जीवन म होने वाले अन्यायो अत्याचारो के विरोध मे चीखने चिल्लाने वाले हाय तोबा मचाने वाले पहले वर्ग म और उन्ही अन्यायो अत्याचारो को सहते हुवे एक समझदार चुप्पी साधने' वाले दूसरे वर्ग म कोई महत् अन्तर नही होता। न पहले वर्ग की मुखर प्रतिक्रियाएँ और न ही दूसरे वर्ग की चुप्पी समाज के ढर्रे को बदल सकती हैं। इनसे न समाज का वर्तमान प्रभावित होता है और न ही भविष्य के प्रभावित होने की सभावना उत्पन्न होती है।

स्व धूमिल की कविता मोचीराम की दार्शनिकता की कुछ प्रमुख बातो को देख चुकने के बाद कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। जैसे यही कि यह कविता विशुद्ध मार्क्सवादी चिन्तन या फिर वर्गवादी विचारो वाली कविता नही है। इसम सच्चे प्रगतिवादी-(किसी दर्शन विशेष के प्रति अप्रतिबद्ध) चिन्तन का एक स्वस्थ रूप उपलब्ध है। सामाजिक वर्गों के आधारो के रूप म जहाँ कवि अभाव और सुविधाओ को ग्राह्य मानता है वही शब्दो की जानकारी और शब्दो की गैर जानकारी के आधार पर भी दो सामाजिक वर्ग उत्पन्न होने की कल्पना कर लेता है। वस्तुत शिक्षितो और अशिक्षितो साक्षरो और निरक्षरो के बीच की सहस्त्रो वर्ष पुरानी खाई की ओर इस कविता म केवल इगित मात्र किया गया है। इस विषय का विस्तार इसी (कवि) की कविता प्रौढ शिक्षा म देखा जा सकता है। केवल पेशा और सवेदना की शक्ति का कोई सम्बन्ध न होने की बात को मोचीराम कविता म प्रतिष्ठित करने का भरसक प्रयास किया गया है। इस छोटी सी परन्तु अर्थान्विति से युक्त कविता की शैली का विचार यहाँ अनावश्यक इसलिए होगा कि वह एक स्वतन्त्र चर्चा का विषय है। अर्थात् धूमिल की पूरी कविताओं के शैली पक्ष पर लिखते उस पर सोचा जा सकता है।

जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ म मैंने सकेत दिया है यहाँ धूमिल कृत केवल एक ही कविता मोचीराम को आधारभूत मानकर कवि की प्रगतिवादी दृष्टि का विवेचन किया जाना है। जिन विचारो को हम पारम्परिक आलोचना की शब्दावली म प्रगतिवादी' कह सकते हैं ऐसे बहुत कम विचार धूमिल की कविताओ म मिलते हैं। इसका कारण स्पष्ट करना चाहूँगा। वस्तुत वह एक ऐसा विद्रोही कवि था जो सममामयिक अव्यवस्था का विरोध तो करता रहा परन्तु आदर्श व्यवस्था

के किसी दार्शनिक खूँटे से बँधा नहीं। यदि वह इस तरह बंधा होता और मार्क्सवादी दर्शन के प्रति उसकी प्रतिबद्धता होती तो पन्ने-पन्ने पर लाल सेना और रूस की उपलब्धियों की जयकार और गिनती होती। परन्तु ऐसी कोई बात उसकी कविता में नहीं दिखायी देती। अपवाद स्वरूप एक कविता का नाम ले सकता हूँ जिसका शीर्षक है 'लेनिन का सिर'। 'कल सुनना मुझे' में पृष्ठ 34 पर प्रकाशित मात्र 14 पंक्तियाँ तो संदिग्ध अर्थ वाली हैं—

'फिर देखते ही देखते
वह सिर बदल जाता है
निग्रो औरत के
पुष्ट दूध भरे विशाल स्तन में,

बाकी दस पंक्तियों में दो अस्पष्ट-से विचार हैं। एक तो यही कि वह (लेनिन का) सिर उस बम की तरह दिखाई देता है जो किसी (साम्यवादी) छापामार दस्ते ने किसी (पूँजीवादी) शत्रु पर फेंका है। दूसरा विचार यही लगता है कि उक्त बम के कारण हुई हिंसा से हुआ खून खराबा साम्यवादी (लेनिनवादी) दर्शन द्वारा समर्थित है। और वह क्यों समर्थनीय है? उस प्रश्न पर भाष्य करने के लिए सैंकड़ों जीवन्त विचार विद्यमान हैं।

यदि 'हिंसा' को तथाकथित प्रगतिवादी चिन्तन द्वारा समर्थित समझा जाय तो उसके बारे में भी धूमिल ने केवल एक कविता 'कविता-श्रीकाकुलम्' में अपने विचार स्पष्ट कर रखे हैं। उक्त कवि के सम्बन्ध में यह पुन एक बार कहना होगा कि वह किसी भी तरह से हिंसा का समर्थक नहीं माना जा सकता। उसका केवल यह विश्वास कि —

एक आदमी
दूसरे आदमी की गरदन
धड़ से
अलग कर देता
जैसे एक मिस्त्री बल्टू से
नट अलग करता है
तुम कहते हो—यह हत्या हो रही है
मैं कहता हूँ—मैकेनिजम टूट रहा है
(कल॰ 20)

यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि वह हिंसा का समर्थक है। क्योंकि वहीं आगे, इसी कविता में, लिखता है—

असली सवाल यह जानना
कि बहता हुआ खून क्या कह रहा है
यह हत्याकांड नहीं है सिर्फ लोहे को
एक नया नाम दिया जा रहा है

(कल० 21)

अन्त में कह सकता हूँ कि स्व० धूमिल को उसकी कुछ कविताओं के आधार पर वर्ग–संघर्षवादी चिन्तक घोषित करना और फिर उसी के वर्गबोध को अस्पष्ट-अधूरा करार दे डालना उसके प्रति अन्याय है। यदि उसकी कविताओं में कहीं पर वर्ग–भावना के स्वर उभरे ही हैं तो वे शुद्ध रूप से स्वदेशी अव्यवस्था की प्रतिक्रिया के रूप में या फिर स्वदेशी वर्ग-भावना के आधार से उभरे हैं। इसके लिए उसने मार्क्सवादी चिन्ताधारा से कोई बहुत बड़ा ऋण अपने सिर पर लाद लिया था जिसे उतारने में वह विफल हुआ यह समझना किसी की भी समझने की शक्ति के प्रति सन्देह उत्पन्न करने वाला सिद्ध होगा।

——

नवम अध्याय

- तनो
अकड़ो
जड़ पकड़ो -

स्व० धूमिल की श्रेष्ठ लघु कविता के रूप में मैंने पिछले पृष्ठों पर 'मोचीराम' की चर्चा की है। वस्तुतः विद्वान आलोचकों का सम्मान करने के लिए मैंने ऐसा किया है। यदि मुझसे पूछिए तो मैं 'प्रौढ़ शिक्षा' को 'मोचीराम' से कम महत्व की कविता नहीं मानता। वैसे तो 'प्रौढ़ शिक्षा' को 'पटकथा' के साथ रखना परन्तु पटकथा 'दीर्घ कविता' होने से दोनों की तुलना शायद गले न उतरने वाली बात होगी। मोचीराम' के साथ आलोचकों ने कवि की वर्गवादी चेतना को जोड़ कर कवि के मूल्यांकन का 'इतिहास' निर्माण कर रखा है। यदि ऐसी ही किसी बड़ी बात को 'प्रौढ़ शिक्षा' के साथ भी जोड़ना हो तो मैं कहूँगा—उस कविता के साथ धूमिल का 'युगद्रष्टत्व' जुड़ा है। 'प्रौढ़ शिक्षा' का महत्व उसने तब विशद किया था जब कि इसे एक राष्ट्रव्यापी प्रतियोजना के रूप में स्वीकार कर, इस पर करोड़ों अरबों की राशि व्यय नहीं की जा रही थी। आज की हमारी जनता- सरकार प्रौढ़-शिक्षा के महत्व को जान चुकी है। स्व धूमिल से 'प्रौढ़ शिक्षा' कविता लिखी जाने और आज के शासन से प्रौढ़ शिक्षा का एक व्यापक काम आरम्भ करने के बीच कोई इतनी लम्बी कालावधि तो नहीं है कि जो कवि को 'युग द्रष्टत्व' देने का औचित्य सिद्ध करे। मात्र एक दशक या एक तप का काल 'युग' की योग्यता रखता है, यह मानना किसी के काल ज्ञान की अयोग्यता की आशंका उत्पन्न कर देता है। परन्तु इस आशंका के पीछे हमारे आज के समय के स्कन्ध-विशेष की अभिज्ञता झलकती है। मैं मानता हूँ कि 10–12 वर्षों का समय अनादि और अनन्त काल की सत्ता में क्षण से भी नगण्य होता है परन्तु यह दानविकता हुई। मानवी सभ्यता और संस्कृति के विकासक्रम के इतिहास में

पर आँच न लाएँ यही आशा होती है। यह तो हमारी आलोचना की पारम्परिकता का प्रभाव है। वस्तुतः हम उक्त शब्दों का प्रयोग हमारे आज के रचनाकारों की योग्यताओं को आँकने के लिए कर नहीं सकते। वैसे आलोचना और परम्परा की कशाकशी में उलझने का यह न उचित अवसर है न उसकी आवश्यकता है। कहने का असली मुद्दा यही है कि धुमिल ने अपने युग को बड़ी गहराई के साथ समझा था। उसकी समझ का नकारात्मक पक्ष व्यंग्य का स्वर लेकर कई कविताओं में फूटा है परन्तु रचनात्मक पक्ष केवल 'प्रौढ़ शिक्षा' में दिखायी देता है। 'प्रौढ़ शिक्षा' का चिन्तन 'पटकथा' की अव्यवस्था की दुर्धर व्याधि पर सुझाई गयी रामबाण दवाई है। यदि धुमिल कविता को 'सापेक्ष वक्तव्य' समझ कर कला को जीवनवादी घोषित करता है और उसकी इस घोषणा को हम उसी की कविताओं में चरितार्थ होती हुई देखना चाहते हैं तो हमें 'प्रौढ़ शिक्षा' की महत्ता को समझने देर नहीं लगती। इस कविता की सबसे बड़ी उपलब्धि यही कही जा सकती है कि इसमें कवि जनसाधारण को कुछ ऐसा सन्देश देना चाहता है जिसका पालन हो तो यहाँ का आज का 'जंगल' कल के सुन्दर उपवन में बदल सकता है। उस सन्देश के पालन की पहली अनिवार्यता है शिक्षित होना।

शिक्षा के महत्त्व को धुमिल ने केवल सतही तौर पर नहीं समझा था। विगत के अनुभव और वर्तमान आवश्यकता का समन्वित चिन्तन उसकी समझ की शक्ति है। प्रौढ़ शिक्षा की आवश्यकता का कोई भी अतीत में उसके अभाव के दुष्परिणामों को जब तक आकलन नहीं कर पाता, समझ ही नहीं सकता। इसकी आवश्यकता वर्तमान-काल में इसलिए अपूर्व हो गयी है कि हमारे पास जनतन्त्र की शासन व्यवस्था प्रचलित है। इस सदी के महान मानीषियों में से एक स्व० डा० बाबासाहब आंबेडकर जी ने लिखा है कि यहाँ का जनतन्त्र तो तभी जीवित रह सकता है जब कि यहाँ की जाति-व्यवस्था समाप्त होगी। जाति-व्यवस्था में बद्ध समाज में जनतन्त्र की शासन-पद्धति चल ही नहीं सकती। या इसे दूसरे भी ढंग से कहना हो तो यह भी कहा जा सकता है—सच्चे लोकतन्त्र में जाति-व्यवस्था जीवित ही रह नहीं सकती। परन्तु उनका उक्त विश्वास आज उतनी सार्थकता नहीं दिखा पाता है जितनी की आशा थी। आज इस मिट्टी में टुच्ची जाति-व्यवस्था और उसी व्यवस्था पर पनपने-फूलने वाला जनतन्त्र अपनी गहरी जड़ें फैला चुका है। यदि कोई आज के यहाँ के जनतन्त्र को असली न मानता हो और नकली समझता हो तो बात और है। फिर प्रश्न यह हो सकता है कि असली जनतन्त्र को लाने का मार्ग कौन-सा है? इसका निःसंदिग्ध शब्दों में उत्तर है 'प्रौढ़ शिक्षा'। शिक्षा और जनतन्त्र का बेहद घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज के युग में सच्चे जनतन्त्र की सफलता उसी समाज में देखी जा सकती है जिस समाज में शिक्षितों का अनुपात ऊँचा है। सारे संसार में इंग्लैंड में शिक्षितों का प्रतिशत सबसे ऊँचा है इसीलिए वहाँ का प्रधानमन्त्री अपनी कुर्सी

(सरकार) बचाने के लिए अपने ही पक्ष के एक बीमार सदस्य को संसद में मतदान के लिए बीमार हालत में ले जाने की अमानवीयता की अपेक्षा सरकार की पराजय को स्वीकारना ठीक समझता है। जिस देश का जनतंत्र ऐसी मानवीय संवेदनाओं से जुड़ा हो वही सच्चा जनतंत्र है। यदि यहाँ ऐसी स्थिति उत्पन्न होती और एक ही मत के लिए कुर्सी का भविष्य दाव पर लगता तो कुर्सी को बचाने के लिए विपक्ष से दो मत (दाना) या तो खरीद लिये जाते या फिर उन्हें संसद में उपस्थित रहने ही न दिया जाता। इंग्लैंड के एक प्रधानमंत्री ने इसलिए त्यागपत्र दिया था कि उनके एक सहयोगी, मंत्री परिषद के एक सदस्य के किसी वारांगना के साथ विवाहबाह्य लैंगिक संबंध होने से राष्ट्रीय महत्व की गोपनीयता को बनाये रख सकने के प्रति गहरा सन्देह की बात का भेद खुल चुका था। ऐसी नैतिकता का और राष्ट्रीयता का परिचय क्या अपने देश में कभी अपेक्षित है? इन सारी लोकतंत्रीय आदर्श परम्पराओं का एक मात्र रहस्य है—वहाँ की जनता में शिक्षितों का ऊँचा प्रतिशत होना। डॉ० बाबा साहब ने जिस जाति-व्यवस्था को लोकतंत्र का पहले क्रम का शत्रु घोषित किया है उस व्यवस्था का आधार भी तो शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार और अनधिकार में ही खोजा गया है। शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार और अनधिकार के ही कारण यहाँ अतीत में भारी सामाजिक विषमता मूलक जाति व्यवस्था को बनाए रखना संभव हुआ था। आज भी इस में कोई बहुत बड़ा अन्तर आया है यह बात नहीं। इसी को धूमिल ने पहचाना था। उसने मूल को सबसे बड़ी समस्या के रूप में देखा था और इस मूल की समस्या के पीछे अशिक्षा का मूल कारण के रूप में पाया था। उसका यह चिंतन अत्यन्त वास्तविक और मूलगामी स्वरूप वाला लगता है।

धूमिल प्रौढ़ शिक्षा' कविता में यद्यपि वर्णमाला का परिचय करा देने का प्रसंग आरंभ में ही चित्रित करता है परन्तु उसका उद्देश्य केवल 'अक्षरज्ञान' तक ही उसे सीमित रखने का नहीं है। वह मोचीराम में 'जिन्हें कुछ शब्द मिल हैं और 'जो शब्दों के आगे अंधे हैं' के आधार पर समाज के दो वर्ग चित्रित करता ही है। 'शब्दबोध' एक व्यापक कल्पना है। शब्दों के साथ सुविधाओं को जोड़कर देखने की कवि की प्रच्छन्न इच्छा इसी प्रकार के कुछ और वक्तव्यों में दिखाई देती है। यह एक विशिष्ट मानसिकता का प्रमाण है। धूमिल के स्वभाव-चित्रण में किसी ने यह लिखा है कि वह उच्चशिक्षितों और खासकर विश्वविद्यालय के अध्यापकों से बहुत चिढ़ता था। और कहते हैं कि इस चिढ़ के पीछे उसका यह आत्महीनता का भाव था कि वह स्वयं अधिक पढ़ नहीं पाया है। अधिक पढ़ न सकने का उसको जो दुख हुआ होगा वह निश्चित रूप से शिक्षा की उच्चता के अनुपात में मिलने वाली (नौकरियों की) सुविधाओं को देखकर हुआ होगा और उसका यह दुख क्षोभ में तब बदला होगा जबकि उसने ऊँची शिक्षा के अनुपात में, शिक्षितों में योग्यता का अभाव देख लिया होगा। वस्तुतः उसके और हमारे समय में भी शैक्षणिक योग्यता का प्रमाण उन

कागज के टुकड़ो को माना जाता है जो किसी ने महाविद्यालयो और विश्वविद्यालयो की उत्तीर्ण की हुई परीक्षाओ का प्रमाण देने हैं, और जिन्हें उपाधियां कहते हैं। परीक्षाओ मे उत्तीर्ण ऐसे भी लोग हो सकते हैं जो नक्ल करने मे सफल होते हैं। इतना ही नहीं बल्कि कुछ विशेष सुविधा प्राप्त लोगो के होनहार बच्चे तो ठीक उसी तरह बिना कागज कलम छुए ग्रेज्युएट-पोस्ट-ग्रेज्युएट हो सकते है जैसे कबीर 'कागज-मसि' छुए बिन महान कवि बन बैठे थे। इस भ्रष्ट व्यवस्था को धूमिल जानता था। इसलिए उच्च शिक्षा-प्राप्त लोगो के प्रति उसके मन मे अनास्था का होना अश्लाघ्य नही माना जा सकता। वैसे भी अशिक्षित मे शिक्षितो के और शिक्षितो मे उच्च शिक्षितो के प्रति बहुत साफ भावनाएं होती नहीं। इधर उपाधियो को दुम या पूछ कहा जाता है। जिसकी दुम जितनी लम्बी उसे प्रचलित व्यवस्था में उतना ही अधिक सुविधा-भोग का अवसर उपलब्ध होता है और सभवत यही वह मूल कारण है जिससे छोटी पूंछ वाले लम्बी पूंछ वालो के प्रति और जिसकी पूंछ ही नहीं होती वे सभी तरह की पूंछ वालो के प्रति सकीर्ण भाव रखते हैं। यह बात अलग है कि इन्सानियत का आविष्कार जिसकी पूंछ नही हो उसी मनुष्य नामक प्राणी म प्रकाशित अधिक होता है। जो भी हो, धूमिल उच्चशिक्षा और उच्चशिक्षितो के प्रति जैसी भी धारणाएं रखता हो, उसने प्रौढ-शिक्षा के महत्व को जिन कारणो से आंका है वे कारण महत्वपूर्ण हैं। उसकी यह कविता आज की समीक्षा की भाषा मे महत्वपूर्ण दस्तावेज' है।

कविता का आरम्भ ही बडा नाटकीय ढग से हुआ है। नाटक के सम्वादतत्व की अपेक्षा दृश्य-तत्व का आधार लेते हुए हुवे कवि ने लिखा है—

काले तख्ते पर सफद खडिया से
मैं तुम्हारे लिए लिखता हूँ—'अ'
और तुम्हारा मुख
किसी अँधेरी गुफा के द्वार की तरह
खुल जाता है—'आ ऽ ऽ'।

यह भविष्य है यानी कि शब्दो की दुनिया मे
आने की सहमति। तुमने पहली बार
बीते दिनो की यातना के खिलाफ
मुँह खोला है

(स० 49)

जिसने भी प्रौढ शिक्षा के कार्य का अनुभव प्राप्त किया है वह इस बात को अच्छी तरह जानता है कि प्रौढो मे वर्णों के उच्चारण की एक दिक्कत होती है।

यह स्वाभाविक है कि वे 'म' को 'ग्राऽऽ' कह। परन्तु उनके इस ग्रशुद्ध उच्चारण मे भी ठीक वैसी ही शक्ति है जैसी पावनता 'राम' कहने वाले के उच्चारण मे हो सकती है। प्रसिद्ध है कि रा कहने से उसके पापो के पहाड मुख से बाहर निकल जाते हैं और 'म' कहने से जब मुँह बद हो जाता है तो कोई पाप पुन भीतर प्रवेश नही कर सकता। इस 'राम'—नाम से भी 'ग्राऽऽ' का उच्चारण हमारे जीवन मे महत्त्वपूर्ण होता है। राम का नाम जीवन की अन्तिम साँस के समय लेकर उस पार' के जीवन को सुखी बनाया जा सकता है तो 'म' को ग्राऽऽ कहने वाला प्रौढ वय का व्यक्ति शिक्षित होकर 'इसी जीवन' की शेष अवधि मे अन्यायो के साथ लडने की क्षमता अर्जित कर सकता है। पहली बार खुलने वाला मुख उस अँधी गुफा की तरह है जो सदियो तक शिक्षा के आलोक से कभी भर नही गया था। उसका ग्राऽऽ कहना युग युग से चले आ रहे अशिक्षा के अभिशाप के खिलाफ खडा होना है। इस बात के लिए मानसिक रूप से तयार होने का प्रमाण है कि वह विगत की यातनाओ के खिलाफ लडने को राजी हुआ है। विगत की यातनाएँ शब्दो से परिचित न होने से ही उसे मिलती रही हैं। अब वह शब्दो को का जानने के लिए उद्यत है। शब्दो को न जानने की यातनाएँ अनन्त होती हैं और अकल्पित भी। इन यातनाओ का इतिहास लम्बा और अपमानबोध भी है। इसी शब्द के अज्ञान के कारण समाज का एक बहुत बडा वर्ग जीवन की सभी तरह की सुविधाओ से वचित रहा। सुविधाओ की बात जाने दीजिए अपमानबोध यत्रणाएँ भोगता रहा। दास सा अप्रतिष्ठित जीवन बिताने पर मजबूर रहा है। मैं इतिहास की बात स प्रकार के अज्ञान का दुख झेलने वालो के प्रसग जुटाना अप्रासगिक तो समझता हूँ परन्तु गुड को रोक नही सकता। इतिहास एक विडम्बना है, एक छल है एव साजिश है जनसाधारणो के विरुद्ध। अतीत के असख्य साधारण जनो की व्यथाओ को वह अकित करने के प्रति मौन रहता है और शासकों की तनी भृकुटियो तक का लेखा-जोखा सुरक्षित कर रखता है। कहते हैं कि एक बार कोई विदेशी दूत सम्राट अकबर के पास कोई दस्तावेज उसीकी दरबारी भाषा मे लिखकर ले गया। अकबर ने उसे उल्टा पकडकर देखा तो उस दूत के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। भाषा को न जानने पर अकबर के मन मे क्या प्रतिक्रिया हुई हो यह तो कहना कठिन है परन्तु उसे अज्ञ जानकर ज्ञानियो का उस समय से लेकर आज तक जो व्यथा होती रही है वह वर्णनातीत है। अकबर शब्दो के न जानने के अपने दुख को सत्ता के नशे मे सभवत अनुभव भी न कर पाया हो परन्तु सत्ताहीन और अपने अस्तित्व के प्रति साशक साधारण लोगो को शब्दो के अज्ञान का दुख होना रहे तो इसे स्वाभाविक ही कहना चाहिए। इतिहास के नाम पर कही सुनी बात छोडिए। व्यवहार से दो उदाहरण जुटाऊँ तो बात ठीक बन सकती है। आजादी के बाद की शिक्षानीति की कृपा से आज भी हमारे परिवार का दसवर्षीय छोकरा स्कूल मे अग्रेजी पढने लगता

है तो घर मे भोजन करते समय यदि वह अपनी देशी माँ से 'मम्मी दाल मे साल्ट कम है। थोडा वॉटर दो।' कहने लगता है तो देशी 'मम्मी' की डाँट पडती है— 'नालायक, क्या गिटर पिटर लगाया है ?' इस डाँट के पीछे उस गृहिणी का साल्ट' और वॉटर' के अर्थ न जानने का प्रच्छन्न क्षोभ ही होता है। जिनकी मम्मियाँ अंगरेजी जानती हैं उनके बच्चे तो पढते ही है अंगरेजी स्कूलो मे इसलिए उनकी कोई समस्या नही होती।

उक्त गृहिणी का क्षोभ शब्दो का न जानने की यातना का एक ऐसा उदाहरण हुआ जिसे पढकर हमें बुरा नही लगता बल्कि इसे एक हँसी मजाक समझकर हम लुत्फ भी उठा सकते हैं। हमारी संवेदना को उसकी या ना के साथ जोडने की उसमें क्षमता नही है। एक और व्यावहारिक और सच्चे उदाहरण को देख लीजिए ' एक छोटे किसान का कोई मामला जिला-न्यायालय म था। एक दिन उसके पास एक लिफाफा पहुँचा डाक से। डाकबाबू से ही पढवाया। पत्र तो पता चला कि दूसरे दिन उसकी पेशी है कचहरी मे। वह उसी रात म पहुँच गया वकील के घर। वकील ने रागि लेने से पहले ही उससे पूछा—'वह लिफाफा ले आये हो जो तुम्हे मिला है ?' किसान ने जेबे टटोली और उत्तर दिया— साहब भूल आया।' वकील ने डाँट पिलाई—'तो क्या मुकदमा तुम्हारे चेहरे का पढकर जीतूगा ?' उस निरीह किसान ने कहा—'ले आता हूँ साब।' और वह लौट गया देहात को। दूसरे दिन 'वकील साब' की कार कचहरी जाने के लिए घर के फाटक से ज्यो ही बाहर निकली कि एक देहाती उससे टकरा गया और बेहोश हो गया। देखा तो वही किसान हाथ मे वह लिफाफा लेकर पडा था जो रातोरात बीस मील की दूसरी बार चक्कर काटकर अपने देहात स लेता आया था। वह लिफाफा और कुछ नही था बल्कि वकील साहब से ही उस पेशी की तारीख की दी गयी सूचना मात्र थी। यदि वह किसान 'मोचीराम' के शब्दो मे उन लोगो मे से होता जिन्हे शब्द मिले है तो क्या उसे उक्त यातना भोगने पर मजबूर होना पडता ? यदि वह किसान शब्दो की दुनिया मे होता तो उसे यह यातना सहन करनी पडती ? इसी तरह की यातना के विरुद्ध मुँह खोलना है प्रौढ शिक्षा मे अ' को 'आऽऽ' कहना। आज तक जो अक्षरो के प्रति अंधे' थे वे बेजुबान थे। जो साक्षर थे उन्ही लोगो ने न जाने कैसे-कैसे शब्दो की भाषा गढी और उन निरक्षरो पर अनगिनत अत्याचार किये। उन्होने भी ऐसे अत्याचारो को अपने गहन अज्ञान बल पर सहा। जैसे हवाई आक्रमणो से बचने के लिए गहरी खाई मे छिपकर खुद की रक्षा की जाती है। इसी अक्षर-अज्ञान ने उसे आज तक साहसहीन बनाया है और केवल पशुओं के साथ जोड रखा है। साक्षरो ने अपने वर्ग ो बिना परिश्रम के खाने-जीने का अधिकारी माना है और निरक्षरों के लिए परिश्रम में घिसते रहना उनकी नियति के साथ जोडा है। किताबी ज्ञान के क्षेत्र मे

ये श्रमजीवी अपने को ठीक वैसे ही पाते हैं जैसे अभिव्यक्ति या भाषा के क्षेत्र में पशु बेजुबान होता है।

लेकिन अब यदि कोई अक्षरों के, शब्दों के ज्ञान के क्षेत्र में आना चाहे तो उसके लिए उतनी हताशा भरी स्थिति नहीं है जितनी कभी थी। लोकतन्त्र के कारण अब व्यवस्था का एक अंग बनने का अवसर उसे मिला है। पचायत राज के प्रयोग से देहात में भी राजनीतिक बोध जागा है। जहाँ आज तक वह केवल मवेशीखाने से ही परिचित था वहीं अब वह पचायत भवन से भी परिचित हो गया है। इसी बदली परिस्थिति में तो शब्दों के साथ परिचित होना, शिक्षित होना नितान्त आवश्यक बन गया है। इस नयी परिस्थिति कल का उपेक्षित, पीडित और आज टूटते टूटते अकस्मात् तन गया है, उसमें आत्मसम्मान की भावना जागी है।

कवि की 'प्रौढशिक्षा' पहले तो शब्द ज्ञान की महिमा तक सीमित दिखाई देती है परन्तु धीरे-धीरे उसका स्वर प्रौढों को उनकी स्थितियों से परिचित कराने की दिशा की ओर उन्मुख होता है। परिस्थितियों के परिवर्तन का सशक्त संकेत तो कल तक जो मवेशीखाना था उसके आज 'उसके आज 'पचायत-भवन' होने से ही मिलता है। ऐसा आकस्मिक परिवर्तन वस्तुत दुनिया के किसी भी देश के इतिहास में अपूर्व है। पचायत-भवन हमारी सत्ता के विकेन्द्रीकरण का तो प्रतीक है ही उसके साथ साथ मतदान से शासकों को चुनने के अधिकार का भी प्रतीक है। शासकों को चुनने के लिए एक साधारण-से-साधारण व्यक्ति को मत देने का जो अधिकार यहाँ के लोगों को मिला, वह खुद इस देश के राजनीतिक इतिहास में भी अभूतपूर्व था। पता नहीं प्राचीन गणतन्त्रों के शासकों का चुनने के लिए यहाँ के साधारण जनों को किस प्रकार की और किस सीमा तक भूमिका निभाने का अधिकार होता था। परन्तु आज उसे मिला यह अधिकार हर पाँच वर्ष की अवधि के बाद राजनीति के खिलाडियों को उसके सामने मत की भीख मागने पर विवश कर देता है। देश की सत्ता के अधिकारी कभी इतनी विनम्र मुद्रा में जनता के सामने आजादी से पहले (अर्थात् चुनाव पद्धति के स्वीकार से पहले) गये हों यह सभव नहीं था। आज की चुनाव-पद्धति वाले गणतत्र में चाहे लाख त्रुटियाँ हों परन्तु इससे अच्छा और कोई विकल्प भी तो हमारे पास नहीं है। इस विकल्पहीन राजनीतिक व्यवस्था का महत्त्व तो हम तभी समझ पाते हैं जब यह जान जाते हैं कि अतीत में यहाँ की साधारण जनता को किस तरह भेड बकरियों की तरह हाँका जाता था। कैसी अप्रतिष्ठित जिंदगी बिताने पर विवश होना पडता था। वैसे जनता के साथ शासकों का यह (दु) व्यवहार आज भी पूरी तरह से खत्म हो चुका है यह कहा नहीं जा सकता। परन्तु इतना अवश्य है कि आज की बदली हुई स्थिति में प्रौढ-शिक्षा नितान्त आवश्यक है जनता को अपनी उपेक्षा भरे अतीत और ठगी भरे वर्तमान को जानने

की क्षमता, योग्यता प्राप्त करने के लिए। कवि इसी अतीत और वर्तमान का जनता को बोध कराने के लिए उसे शिक्षित करना चाहता है और इसी बोध को वह शिक्षा समझता है। किसी भी बात का ज्ञान ही सच्ची शिक्षा है। ज्ञान स्वयं ही एक शक्ति होता है। साधारण जनता को शक्तिशाली बनाने के लिए उसे शिक्षित करना अपनी स्थिति का ज्ञान और भान कराना आवश्यक होता है।

धूमिल की दृष्टि में शिक्षा का पहला पाठ दूसरे पाठ के आरम्भ में दोहराना आवश्यक है। क्योंकि उसी पाठ में साधारण लोगों की निरीहता, विवशता, भोला-भालापन और राजनेताओं की–शासकों की–घिनौनी करतूत शामिल हैं। उसी (पहले) पाठ को दोहराने में सारी कविता समाप्त हो जाती है उसी पाठ में शिक्षा के पाठ का प्रारंभ, मध्य और अन्त निहित है। जनसाधारण की निरीह स्थिति के चित्रण से शिक्षा के पाठ का प्रारंभ होता है, राजनेताओं की चालाकियों का वर्णन उस पाठ का मध्य है और पाठ के सन्देश में उस (पाठ) का अन्त होता है।

जिस समय यहाँ का जनसाधारण स्वयं अभावों में पल कर भी दूसरों को सुविधाएँ उपलब्ध करा देता था उस समय उसके शोषण का एकमात्र कारण था–उसका निरक्षर, अपढ़ और गवार होना। उसकी इसी स्थिति का जिस दिन दूसरों ने लाभ उठाया था उसी दिन दुनिया का उसके प्रति सहानुभूतिहीन व्यवहार स्पष्ट हुआ था। जिस दिन उस निरक्षर अपढ़ और गवार के अगूठे की निशानी लेकर उसके शोषण की वैधता करार दी गयी थी उसी दिन इस दुनिया की हर भाषा मर गयी थी। अगूठों के निशान लगवा-लगवा कर लोगों को जील दासों में बदलकर जीवन बिताने पर मजबूर करने वाले वाले वे ही लोग थे जिन्हें 'भाषा' अवगत थी। उन निष्ठुर लोगों ने अपने अमानवीय व्यवहार से भाषा के साथ जुड़ी मानवता की कल्पना का निर्मूल कर दिया था। उसी दिन इस संसार की सभी भाषाएँ मर गयी थी जिस दिन 'भाषाहीन' को छला गया था, उसके विरुद्ध भाषा के जानकारों ने षड्यन्त्र रचा था। धूमिल के शब्द हैं—

कल मैंने कहा था कि वह दुनिया
जिसे ढकने के लिए तुम नंगे हो रहे थे
उसी दिन उघर गयी थी
जिस दिन हर भाषा
तुम्हारी अगूठा-निशान की स्याही में डूब कर
मर गयी थी
तुम अपढ़ थे

गवार थे
सीधे इतन कि बस—
दो और दो चार थे

(स० 50–51)

अपन गवार और सीधे लोगो के साथ पढे लिखे, चतुर और तिकडमी लोगो म हुव अ यायपूण व्यवहार की कल्पना भी कर सकना सभव नही है। यदि मात्र देशी भाषा जानने वालो को यहाँ की ही कुल आबादी का डेढ प्रतिशत एक वग अगरजी जानता है आजादी क तीन दशको तक उल्लू बनाए रख सकता है ता अपढा क साथ प लिख लागो का व्यवहार कसा होगा ? वस्तुत भ षा को जानन क इस देश म अनेक स्तर ह। भाषा का बहुत ही साधारण रूप जानने वाला वग दन दन व्यवहार की स धारण आवश्यकताओ को पूरी करन म उससे सहायता लेता है। क्षम कुशल क दो अक्षरो वाली चिट्ठी लिख लेता है यदि उपलब्ध हुवा तो पत्र पत्रिकाओ क पन्न पलट लता है और व्यवहार की कुछ याद रखन योग्य बातों का अपनी भाषा म लिखकर रख लता है। भाषा क ऊँचे स्तर को जानने वाल लोगा को भाषा से कई काम लेन की सुविधा उपलब्ध होती है। रचनाकार अपनी अनुभूतियो को अभिव्यक्ति दन क लिए रसिक या भावक अपनी पढ़ने की भूख को मिटाने के लिए शासक प्रशासन चल ने के लिए और यायविद् यायदान करने के लिए भाषा को स धन क रूप म प्रयुक्त करते हैं। इन सार वर्गों मे शासन चलान वालो और यायदान करने वाला को भाषा म दूसरो को प्रभावित करन की असीम शक्ति होती है। जहाँ उक्त दोनो वर्गों की भाषाओ म एकरूपता और उद्देश्यगत एकता हा और उन वर्गों की नीयत साधारण जनता क लिए साफ न हो तो साधारण लोगा का भारी कष्ट उठाने पडत हैं। आज यही स्थिति है। प्रशासन और न्यायदान की मिलीभगत हो तो उनकी सयुक्त भाषा (और दुर्मति) जनता क लिए अपार दुख भोगने पर विवश कर देती है ? यही कारण है कि आज का एक उच्चतम शिक्षित व्यक्ति निरपराध हाने पर भी शासन और याय का शिकन से बचने की भाषा न जानन से उसम भयभीत हो जाता है। हमारे देश के आज के जनतत्र म भाषा का अनयसाधारण महत्व इसलिए बढ़ गया है। जब प्रशासन और याय व्यवस्था की भाषा म विरोध उत्पन्न होना है तो आपात् स्थिति लागू की जाती है और याय व्यवस्था को चुप कराने का प्रयास होता है। परन्तु यहाँ की जनता अब न न्याय को खामोश हात देख सकती है न शासन को निरकुश होत देख सकती है। परिणामत दूसरी आजादी एक अतिशय मुखर' जनतत्र को लकर आती है। मैं आजादी क बाद की सभी घटनाओ को भाषा क सन्दभ म ही देखता हूँ क्योकि हम स्वाधीनता के बाद जिस सविधान क अन्तगत रहना पडा है वह सविधान ही

व्यवहार की अपेक्षा (कानूनी भाषा को अधिक महत्त्व देने वाला है। श्रेष्ठ वकीलों ने उसका निर्माण किया है इसलिए उसमें मानवीय संवेदनाओं की अपेक्षा कानूनी दांवपेंचों का अधिक ख्याल रखा गया है। जितनी अधिक सूक्ष्म कानून उनमें अधिक उन कानूनों से बचने के लिए भागने की राहें यह यहां की न्याय-व्यवस्था की विचित्रता होने से एक अमरीकी विधिज्ञ का यह कथन बड़ा सटीक लगता है कि 'भारतीय न्याय व्यवस्था वकीलों का स्वर्ग है।'

मैं इस व्यवस्था को भाषा के साथ जोड़कर इसलिए देखता हूँ कि इसकी भाषा में और जनसाधारण की भाषा में कभी भी न पट सकने वाली खाई उत्पन्न हो चुकी है। जिस काम को जनता की भाषा 'अपराधी' कहती है यहां की न्याय-व्यवस्था की भाषा में उस अपराध के साथ सम्बन्धित को 'निर्दोष' कहा जाता है। भाषा के इसी विरोधाभास ने हमारे जीवन मूल्यों को नष्ट कर डाला है। जन-साधारण की भाषा में न्याय नहीं मिलता और न्याय की भाषा में जनसाधारण की न गति है न मति है।

मैंने उक्त भाषा विषयक विवाद को हेतुन विस्तार दिया है। यह कहने के लिए कि भाषा का अज्ञान, चाहे जिस स्तर पर हो केवल व्यक्ति-जीवन या किसी एक समाज-जीवन में ही नहीं बल्कि राष्ट्र के समूचे जीवन में संकट उत्पन्न कर सकता है। इसलिए साधारण लोगों को केवल भाषा के साधारण ज्ञान की शिक्षा ही पर्याप्त नहीं है। उनके लिए 'प्रौढ़ शिक्षा' की व्याप्ति उनके अपने समकालीन बोध तक बढ़ानी चाहिए इस बात को धूमिल ने भाँप लिया था। इसीलिए आगे की अनेक पंक्तियों में उसने 'प्रौढ़शिक्षा' के रूप में साधारण लोगों के सामने समकालीन स्थिति का वास्तविक रूप रखा है।

बात धूमिल ने सुराजियों की चालाकी से प्रारम्भ की है। सुराज स्थापना का आश्वासन देने वाले किस तरह सुरा राज और सुन्दरी-सत्ता की महत्ता की स्थापना कर गये, इस बात की चर्चा धूमिल ने की है। इसके बारे में मैंने कवि के राजनीतिक बोध के सन्दर्भ में लिखा ही है। साथ-साथ यह भी स्पष्ट किया गया है कि यहाँ की भोली-भाली जनता को ठगने के लिए कैसे-कैसे षड्यन्त्र रचे गये हैं। 'भूख' को बनाए रख कर राजनीतिक किस प्रकार अपने उल्लू सीधे कर रहे हैं। किस तरह यहाँ की जनता की प्रशंसा के पुल बाँध कर उसी (प्रशंसा) की आड़ में उसके साथ धोखाधड़ी की जा रही है। इस धोखाधड़ी में किस प्रकार न्याय और धर्म की सहायता ली जा रही है और जनता को एक ऐसी दलदल में उलझाया जा रहा है जिससे वह कभी उभर ही न सके। इतनी सारी बातें कर लेने के बाद कवि प्रौढ़ों से पूछता है—

'यह जो बुरा हाल है
इसकी वजह क्या है ?,'

(स० 52)

और स्वय ही उन्हें उत्तर देता है—

इसकी वजह खत है
जो तुम्हारी भूख का दलाल है
आह ! मैं समझता हूँ कि यह एक एसा सत्य है
जिसे स्वीकारते हुए हर आदमी झिझकता है

(स० 52)

स्व० धूमिल की देहाती जीवन की गहरी समझ का सबसे अच्छा उदाहरण उक्त पक्तियो म मिलता है। आजादी के बाद आज तक, मुट्ठीभर बडे जमीदारो को अपवाद के रूप म छोड कर देखें तो किसानो की जो दुर्गति इस देश म हुई है उसकी कोई मिसाल दुनिया के इतिहास म नहीं मिल सकती। इसका प्रतिवाद करने वाले लोग शहर के गरीबो की दुःस्थिति का हवाला दे सकते हैं परन्तु यह कितने लोग जानते हैं कि शहर के दरिद्र वग का व्यक्ति भी खतीवाडी पर पेट पल न सकने से लाचार होकर आया हुआ किसान ही होता है। स्वाधीनता की रक्षा के लिए जवान बेटो को पैदा करने और देशवासियो का पेट भरने के लिए अनाज उत्पन्न करने वाले किसान-बेटो का जन्म देने वाले माँ-बाप का गौरव उत्तरोत्तर विकराल हो रही पूँजीवादी व्यवस्था की भूख को मिटाने के लिए विवश होकर शहर भेज जाने वाले मजदूर-बेटो का पैदा करने की व्यथा से भनस गया है। इस व्यथा का मूल कारण है वह खत जो भूख की दलाली करता है। महगी खाद और उवरको के बदले म किसानो को वह (खेत) सस्ता अनाज देता है। एसा अनाज जो उसे उपजाने वालो की भूख को बढाता है और उसे खरीद सकने वालो की भूख को मिटाता है। इस उपजाने वाले और खरीदने वाले सामाजिक वर्गो के बीच की आर्थिक खाई उत्तरोत्तर चौडी होती जा रही है। ग्रामीण और शहरी अर्थव्यवस्था के बीच की शोषित और शोषक के रूप म उभरती विषमता को धूमिल-सा कवि ही माप सकता है। खत को भूख का दलाल कहने से उत्पादक और उपभोक्ता वग म विभाजित आज के समाज का एक एसा स्पष्ट चित्र उभरता है जिसके सत्य होने पर कोई भी सहज म विश्वास नहीं कर पाता। परन्तु विश्वास तो करना ही पडता है। सच्चाई से कब तक मुह मोडा जा सकता है ? खेती-बाडी की अवनति का एक स्वानुभूत प्रसग देकर इस प्रसग का समाप्त करना चाहूँगा। जिन प्रदेशो को बाढ के प्रभाव से सूख का सामना होता है उनके बारे म अक्सर कहा जाता है कि पडो के कटते जाने से

वर्षा कम होती रही है। यह वैज्ञानिक सत्य है या नहीं ? या फिर यही एक मात्र वर्षा की कमी का कारण है या कुछ और भी कारण है ? ये प्रश्न बेकार हैं। सार्थक प्रश्न तो है—'वृक्ष क्यों कटते हैं ?' मैंने इसका एक कारण और उस कारण के पीछे छिपा एक और कारण पढा है। शहरी लोगों के मत मे देहात के लोग गरीबी के मारे पेड तोडकर, काटकर ईंधन की लकडी के रूप मे बेचने शहर ले आते हैं और उन देहातियों की दरिद्रता दुर्व्यसनों के चंगुल मे फसने से—विशेषत शराब के व्यसन से—बढती है। उक्त दोनों कारणों मे से अर्द्ध सत्य ही प्रकट होता है। पहले कारण मे अवश्य कुछ सच्चाई है परन्तु दूसरे की सच्चाई सन्देहास्पद है। मुझे लगता है दूसरा कारण यह होना चाहिए—क्योंकि शहरी लोगों की सम्पन्नता बढी हुई है।

मेरे उक्त विश्वास के पीछे तक या अनुमान नहीं वरन् तथ्य निहित है। देहात से शहर आती एक बैलगाडी (जिसमे पेड काटकर ईंधन की लकडी के रूप में भरा गया था) को रोककर मैंने गाडीवाले से पूछा था—'क्यों भय्या, पेड क्यों काटा ?' उत्तर दो टूक था उसका—'पेट के लिए।' और फिर विस्तार के साथ हुई बातों मे पता चला कि ईंधन की लकडी बहुत महगी बिक रही है और गाँव मे अकाल सी स्थिति उत्पन्न हुई है। मैं अर्थशास्त्र के सिद्धान्त तो नहीं जानता परन्तु देहाती मानसिकता से परिचित हूँ। शायद ही कोई किसान विलास-सामग्री जुटाने के लिए या शराब पीने के लिए खेत मे खडे पेड काटता है। या तो वह अपना घर बनवाने या फिर खेती-बाडी के लिए उपयोगी हल, बैलगाडी जैसे उपकरण-साधन बनवाने के लिए ही पेड काटता है। परन्तु यदि भूख का सकट खडा हो तो वह उससे निबटने के लिए पेडों को काटने पर मजबूर हो जाता है। ईंधन की लकडी बेचने वाले और उसे खरीदकर जलाने वाले वर्गों की आर्थिक स्थिति की तुलना करने पर भी यही सिद्ध होता है कि उसे बेचने वालों से खरीदने वाले बहुत अच्छी स्थिति मे होते हैं। जहाँ तक देहाती की गरीबी के लिए शराब के दुर्व्यसन को कारण समझने की बात है, मैं कहना चाहूँगा कि पेड काट कर ईंधन के रूप मे उसकी लकडी बेचने वालों और उसे खरीदकर जलाने वालों मे शराब की लत के प्रसार के आकडे इकट्ठे किए बिना ही उक्त देहाती वर्ग पर किये जाने वाले अभियोग की सच्चाई कभी भी स्थापित नहीं हो सकती। मेरा अपना निरीक्षण यही कहता है कि दोनों वर्गों मे 19 20 का अन्तर होगा। इससे अधिक कुछ नहीं।

स्व० भूमित्र किसानों की विवशताओं से जितना परिचित था उतना ही उनकी विशेषताओं से भी। उनकी परिश्रमशीलता और पशुओं की हरकतों से आने वाले प्राकृतिक सकट को पहले ही समझने की शक्ति की वह सराहना करता है। प्रौढ-शिक्षा की कक्षा मे आये हुवे लोग समझ और अनुभव से भी प्रौढ होते हैं

इसलिए कवि जिन शब्दो मे उनकी जो विशेषताएँ कहता है, निरर्थक नही लगती। वह लिखता है—

> यद्यपि यह सही है कि सूरज
> तुम्हारी जेब-घडी है
> तुम्हारी पसलियो पर
> मौसम की लटकती हुई जजीर
> हवा मे हिलती है और
> पशुओ की हरकतो से
> दुम्ह आने वाले खतरो की गध
> मिलती है
> लेकिन इतना ही काफी नही है
>
> (स० 52–53)

कविता के अन्त मे 'प्रौढशिक्षा' के मूल उद्देश्य को जिन प्रभावी शब्दो मे प्रकट करता है, व शब्द पाठकों के मन मे गूँजते और गूँजते ही रहते हैं। अपनी हीनता-दीनता की भावना को तिलांजलि देकर स्वाभिमान के साथ जीने का सदेश देना कविता का लक्ष्य है। कवि के शब्द हैं—

> इसलिए मैं फिर कहता हूँ कि हाथ म
> गीली मिट्टी की तरह-हाँ हाँ-मत करो
> तनो
> अकडो
> अमरबेलि की तरह मत जिम्रो,
> जड पकडो
>
> (स० 53)

अपनी आत्महीनता को झटक कर खडे होने, तन कर खड़े होने, अकडकर खडे होने और जड पकड कर खडे होने की आज नितान्त आवश्यकता है। उसके लिए स्थिति भी बडी ही उपयुक्त है। सारी दुनिया बदल गयी है इसलिए समय के साथ चलने के लिए तुम्हे भी बदलना होगा। ऐसे ऐसे परिवर्तन के लिए वह शिक्षा की रात उपयुक्त है, जो तुम्हे शब्दो के साथ जोड देगी। तुम्हे भी तीसरी (ज्ञानकी) आँख मिलेगी। नये नये विषयों का ज्ञान होगा। इसलिए इस रात का स्वागत करने के लिए तैयार रहो।

अन्तत कहा जा सकता है कि स्व० धूमिल की कविता 'प्रौढशिक्षा' एक अत्यन्त सशक्त रचना है। हमारे आज के समाज में प्रचलित शिक्षित प्रशिक्षित,

शहरी-देहाती और शासक शासित वर्गों के बीच की विषमता के मूल कारणों को समझ कर उसे दूर करने का उपाय सुझाने वाली है। इसमे कवि की प्राय सभी काव्य प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई हैं। भावगत और शैलीगत कसौटियो पर भी यह धूमिल की एक प्रतिनिधिक रचना सिद्ध हो सकती है। ग्रामीणो के प्रति कवि मन की आत्मीयता-आस्था और हित-कामना का ऐसा समन्वित रूप दूसरी और किसी कविता मे नही मिलता। राजनीतिक व्यग्य और व्यवस्था की विद्रूपता की झलकियाँ भी मुराजियो के चरित्राकन मे विद्यमान हैं। कवि की विख्यात 'जगल' और 'दलदल' की कल्पनाओ का भी इसमे वर्णन है। भूख की विकट समस्या भी इसकी वर्ण्य की सीमा से बाहर नही रह पायी है। स्वाधीनता के बाद बदली स्थितियो मे आस्था और अनास्था इसी एक कविता मे देखी जा सकती है। इतना ही नही बल्कि अशिक्षा के भीषण अभिशाप का इतना स्पष्ट चिन्तन और किसी भी कविता मे दुर्लभ है। इन सभी मे बढकर जो बात इसमे देखी जा सकती है वह यही कि कवि यहाँ की उपेक्षित, शोषित पीडित जनता मे शिक्षा की सजीवनी-शक्ति भर कर उन्हे आत्म-गौरव के साथ जीने के लिए प्रेरित करता है। 'जिस रचना का सन्देश महान् होता है वह रचना महान् होती हैं' इसे एक दकियानूसी विचार, समझकर सहज मे ही त्याज्य नहीं ठहरा सकते। जो कवि दूसरे जनतत्र की कामना करता हो, जो कवि अपनी समकालीन व्यवस्था को 'दलदल' समझकर उससे उबरना चाहता हो और जो कवि एक सुखद स्वप्न को साकार करने के लिए लडते रहना अपना कर्त्तव्य समझता हो उसके स्वर मे सम्बोधन, प्रबोधन और सदेश का भाव फूट पडा हो तो उसे गभीरतापूर्वक देखना आवश्यक है।

दशम अध्याय

'दुखी मत हो। यही मेरी नियति है'

स्व० धूमिल की कविता पटकथा उनकी आज तक की प्रकाशित कविताओं में एक मात्र दीर्घ कविता है। 'आज तक की प्रकाशित' को मैंने इसलिए अधोरेखित किया है कि उनकी पूरी रचनाएँ अभी तक प्रकाशित नहीं हो पायी हैं। उनके सुयोग्य अनुज श्री कन्हैया पाण्डेय निरंतर इस पुनीत प्रयास में जुटे हुवे हैं कि अपने अग्रज की सारी रचनाएँ प्रकाशित हों। वे इसके लिए अपने पास की धूमिल लिखित कविताओं की बिखरी पाण्डुलिपियों को सजोकर तरतीब देकर उन्हें प्रकाशित करते रहे हैं। धूमिल के मित्रों से बराबर अनुरोध करते जा रहे हैं कि यदि उनके पास धूमिल का लिखा कुछ हो तो 'युगबोध प्रकाशन' के पते पर कृपया भेज दें। कह नहीं सकते अभी कितनी रचनाएँ अंधेरे में प्रकाश की प्रतीक्षा में पड़ी हैं। वैसे धूमिल की अल्पायु में हुई मृत्यु को देखकर तो यही लगता है कि 'पटकथा' जैसी और कोई लम्बी कविता उसने शायद ही लिखी हो। खैर, यहाँ उक्त कविता के बारे में सोचने के मेरे अपने प्रयोजन को पहले स्पष्ट कर दूँ।

आलोचक उक्त 'पटकथा' कविता को धूमिल की अन्यतम श्रेष्ठ रचना मानते हैं। उसकी लगभग 850 पंक्तियों में से इसमें पहले लिखे पृष्ठों पर कम से कम 250 के लगभग महत्वपूर्ण पंक्तियों को विभिन्न सन्दर्भों में मैंने उद्धृत कर रखा है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि यह कविता मुझे भी बड़ी महत्वपूर्ण लगती है। कुछ आलोचक तो इस कविता को स्व० मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' के साथ तौल कर देखते हैं। उनकी धारणा में 'पटकथा' अंधेरे में कविता की 'पैरोडी' (विडम्बन = नकल) है। और धूमिल से घनिष्ठ लोगों का कहना है कि वह भी अपनी कविता 'पटकथा' को उक्त 'अंधेरे में' के साथ रखकर देखा करता था। दोनों कविताओं को पढ़ जाने पर यह बात अनायास ही समझ में आती है कि स्व० मुक्तिबोध की रचना ने स्व० धूमिल

को गहराई तक प्रभावित कर रखा था। उक्त दोनों कविताओं की तुलना का कोई बड़ा सार्थक प्रसंग नहीं है परन्तु इतना कहना आवश्यक है कि दोनों में जितनी समानताएँ हैं उतनी ही असमानताएँ भी हैं। मध्यवर्गीय दृष्टि दोनों की वैचारिक भूमिकागत समान विशेषता है परन्तु दोनों का कविता लिखने की बिल्कुल अलग-अलग है। मुक्तिबोध अपने अनभिव्यक्त भावों की आन्तरिक उमड़न घुमड़न को, आँधी को शब्दों में बाँधना चाहता है जब कि धूमिल अपने अभिव्यक्त भावों-विचारों के आयामों को और अधिक विस्तार देना चाहता है। 'अंधेरे में गहराव की कविता है तो पटकथा' फैलाव की रचना है। 'अंधेरे में' में आत्मन्य विक्षोभ विद्रोह कुंठा, निराशा आदि कई भावनाओं को थाहने का विकल प्रयास है तो 'पटकथा' में परिवेश में खुले आम देखे जाने वाली विसगतियों पर चोट करने का, विकृतियों को सरेआम प्रकट करने का अद्भुत प्रयास है। 'अंधेरे में' से व्यक्ति का चेतन, उपचेतन भावना है और 'पटकथा' में एक व्यक्ति की समाजोन्मुखी मन की स्पष्ट मनकियाँ मिलती हैं। अंधेरे में' का कवि समाज में देखे, व्यक्ति-जीवन में भोगे यथार्थ को सार्थक और सच्ची अभिव्यक्ति न दे सकने के लिए आत्म-भर्त्सना की सीमा में पहुँचता है तो 'पटकथा' का कवि उसी यथार्थ को अभिव्यक्ति देने का कोई लाभ न देख कर विक्षुब्ध हो उठता है। पहले में अनभिव्यक्ति-जन्य कुंठा और सन्त्रास है तो दूसरे में अभिव्यक्ति की विफलता से उत्पन्न हताशा और निराशा है। पहली कविता में भाव और विचारों की अन्विति है तो दूसरी कविता में बिखराव छितराव है। पहली की भाषा अत्यधिक सार्थक शब्द-चयन से समृद्ध सूक्ष्मतर भावों की अभिव्यंजना में सफल और सम्प्रेषण में अपूर्व है। पहली कविता की भाषा छायावादी कवि निराला की भाषा की याद दिलाती है तो दूसरी की भाषा एक सम्पूर्ण नयी काव्य-भाषा के उद्भव का सशक्त बोध कराती है। और भी कई बातों में दोनों की तुलना असंभव नहीं, भले ही उस तुलना में साम्य से अधिक विरोध के लक्षण प्रकट हों।

दो कविताओं की तुलना से अधिक 'पटकथा' का सामान्य परिचय देना मैं आवश्यक समझता हूँ। लगता है धूमिल अपने देखे-परखे और भोगे यथार्थ को एक ही रचना में अभिव्यक्ति देना चाहता था। इसके लिए कवि ने 33 पृष्ठों में फैली 33 बदों में बंधी और 33 विभिन्न विचारों में स्पष्ट हुई एक रचना प्रस्तुत की है — 'पटकथा'। इसका मतलब यह नहीं है कि गणक्यवत् एक पृष्ठ पर, एक बंद में एक विचार का अनुपात कविता में रखा गया है। इसे तो महज एक संयोग समझना चाहिए कि उक्त अनुपात स्थूलतः निभ गया है। वैसे इस रचना में मोटे तौर पर पाँच परिवर्तनों का सद्भाव हुआ है। उन परिवर्तनों के परिचय से पहले मैं शीर्षक की सार्थकता पर दो शब्द लिखना चाहूँगा। 'पटकथा' का सीधा-सरल अर्थ होगा पट्टपर अंकित कथा। 'पट' का अर्थ कपड़ा या 'कैनवास' हो तो पट पर अंकित-

चित्रित (चित्र) कथा का भी अर्थ लिया जा सकता है। मेरा मराठी मन 'पटकथा शब्द से खूब परिचित है। सिनेमा में संवाद लिखने से पहले जो कथा लिखी जाती है उसे इधर 'पटकथा' कहते हैं। इसे चित्र पटकथा ही समझा जाता है। वैसे भी पटकथा का सम्बन्ध चित्रात्मकता से अधिक है। 'पट' का अर्थ पर्दा भी होता है। पर्दे का सम्बन्ध कभी नाटकों से अधिक था, आज फिल्म से भी वह जुड़ गया है। नाटकों में पर्दे (पट) की ऐतिहासिक भूमिका रही है। किसी समय बदले हुवे दृश्य से परिवेश की संगति उत्पन्न करने के लिए पर्दों पर कुछ सुसंगत चित्र अंकित होते थे। राजा का दरबार रंगमंच पर दिखाने के लिए दरबार भवन का चित्र पर्दे पर अंकित होता था। किसी वन उपवन या समय का बोध कराने वाले दृश्य भी पर्दे पर अंकित होते थे। पट का दूसरा कार्य होता था एक दृश्य की इति के समय मंच और दर्शकों के बीच आना और दूसरे दृश्य के आरंभ के समय मंच और दर्शकों के बीच से हट (उठ) जाना। चित्रकला के सशक्त माध्यम से एक लम्बे पट पर अनेक दृश्य अंकित करके भी एकाध कथा कही जा सकती थी। ये सारे चित्र और कथा के संदर्भ 'पटकथा' के साथ सजीव हो उठते हैं। प्रस्तुत कविता का शीर्षक भी उन्हीं संदर्भों में अपनी सार्थकता खोजता-सा लगता है। इस आसेतु हिमाचल तक फैले विशाल देशरूपी पट पर स्वाधीनता के बाद जो भी दृश्य देखे गये उनका शब्दों में वर्णन करने का प्रयास इस कविता का लक्ष्य लगता है। वैसे भी पटकथा से और भी कई अर्थ निकाले जा सकते हैं परन्तु मैं उक्त रंगमंचीय और चित्रात्मक अर्थ को ही महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। इसका कारण संभवतः मेरा वह संस्कार है जो इस प्रदेश के प्रख्यात कथा-साहित्यकार स्व० माने गुरुजी के विचारों से उत्पन्न हुआ है। उनकी एक कल्पना मुझे बड़ी प्रिय लगती है। उन्होंने अपने एक प्रख्यात उपन्यास आस्तिक में लिखा था कि यह भारत भूमि ईश्वर की रंगभूमि है, रंगमंच है। कई तरह की जलवायु में, कई भाषाएँ बोलने वाले कई धर्मों में श्रद्धा रखने वाले, कई प्रकार के परिधान ओढ़ने-पहनने-बांधने वाले कई प्रकार की राजनीतिक मान्यताओं वाले और कई रंगों के लोगों को एक देश में रखने पर वे कैसा व्यवहार कर सकेंगे इसे जानने के लिए इस रंगमंच पर वह सर्वशक्तिमान शक्तियों से नाटकों के प्रयोग करता रहा है।" आदि। मैं समझता हूँ उसी विराट सर्जीकरण के कारण इस देश की भूमि पर आये दिन पुरानी व्यवस्था पर पटाक्षेप होते रहते हैं और नई व्यवस्था पर से पर्दे उठते रहते हैं। दृश्य-परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। कभी कभी अत्यन्त भीषण दृश्य भी उपस्थित होते हैं फिर भी हमारी अभिनयशीलता पर आँच नहीं आ पाती। ऐसे हताश निराश और उदास करने वाले दृश्यों को देखकर जब भी यहाँ की बौद्धिकता व्यथित हो जाती है तो स्वयं इस देश की मिट्टी बोल उठती है –

'दुखी मत हो। यही मेरी नियति है'

इसी तरह की नियति की कथा 'पटकथा' का कथ्य है। इस कथा में प्रायः सभी प्रकार के दृश्य अंकित हैं। आजादी की उमंग है, एक युग नेता के प्रति जनता का एकनिष्ठ समर्पण भाव है, समस्याओं का बढ़ना है पड़ोसियों के आक्रमण हैं युद्धों में हार है जीत है चुनाव हैं, नेता हैं और जनता है। सवाल यह है कि इस— कथा — में क्या नहीं है? इस तरह की व्यापकता को लेकर चलने वाली 'कथा' चित्रात्मकता के कारण बहुत रोचक—आकर्षक और उद्बोधक भी बन गयी है। देश की समकालीन नियति की भाँकी इस कविता का मूल उद्देश्य है। इसी तरह की विकट नियति को यह देश सदियों से झेलता आया है। यदि कवि उन विकट ऐतिहासिक प्रसंगों का भी वर्णन कर देता कि जब इस देश ने देशवासियों को उजाले से जोड़ना चाहा था परन्तु देशवासियों ने उसी की दुर्गति बना डाली थी तो यह कविता महाकाव्य का रूप लेता और अधिक प्रभावी बन जाती। जिस भी रूप में यह कविता हमारे सामने है, इसके कथ्य की स्थूलतर रूप-रेखा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

कविता की भूमिका से ही स्पष्ट हो जाता है कि खुली अभिव्यक्ति का संकल्प लेकर कवि आत्मोन्मुखी प्रवृत्ति की सकुचित परिधि से बाहर निकल आता है। शब्दों में आन्तरिक रुग्णता की अपेक्षा रोगों के इलाज का काम ले सकने का उसका विश्वास बढ़ा होता है। निजी जीवन की गुत्थियों, मर्ज़ों, अभावों कुंठाओं और व्यथाओं को दूर रख कर सार्वजनिक जीवन में भाँकने का प्रयास करता है। उसकी दृष्टि सबसे पहले सार्वजनिक जीवन के सुखद पक्ष पर टिकती है। स्वाधीनता को उपभोगने वाले ग्रामीणों का जीवन उसे बड़ा ही उल्लासमय दिखाई पड़ता है। उसके इस 'स्व' से 'पर' के जीवन में भाँकने के दृष्टि-परिवर्तन से उसका स्वर भी बदल जाता है। एक उमंग, जोश उसकी वृत्ति में भर जाता। उसी के शब्दों में—

बाहर हवा थी
धूप थी
घास थी
मैंने कहा आजादी" ।
मुझे अच्छी तरह याद है—
मैंने यही कहा था
मेरी नस-नस में बिजली
दौड़ रही थी
उत्साह में
खुद मेरा स्वर
मुझे अजनबी लग रहा था

मैने कहा—आजादी
और दौडता हुआ खेतो की ओर
गया।

(स० 108)

और खेतो मे चरते बैलो की उस (कवि) ने पीठ थपथपाई। किसानो को बधाइयाँ दी। उसी उमग मे घर आकर दीवार पर लगी पुरानी तस्वीरो को झाड-पोछ स्वच्छ कर दिया। देशवासियो के जीवन के प्रवाह म खुद को बहाने क लिए वनमहोत्सव मनाया और शान्तिवाद का आदर किया। इसके लिए उसने पौधे लगाये। कबूतर पाले। और अपने देश की व्यवस्था (कानून) मे अपनी गहरी आस्था निष्ठा का प्रकट किया।

देशवासियो के जीवन म जो कुछ था उसस कवि ने प्यार किया और जो नहीं था उसका इन्तजार करता रहा। रोटी कपडा और मकान सभी को मिलने की आशा करता रहा। उसे विश्वास हो गया था कि जनतत्र, त्याग स्वतत्रता सस्कृति शान्ति, मनुष्यता जैसे श्रेष्ठ मानव जीवन मूल्यो के होने वाल वादो क उद्घोषो से अवश्य ही अभावो का स्थिति समाप्त होगी। ये वादे राजनेताओ के थे। वादे सुन्दर थे। उन्हीं सुन्दर वादो के सम्मोहन मे बधकर उसने अपने नायक (प० जवाहरलाल नेहरू) के विश्वशान्ति और पचशील जैसे महान् सिद्धान्तो म विश्वास किया। अपनी व्यवस्था के प्रति अविरोधी भाव से हर प्रकार की स्थिति म आस्था रखी। विरोधी भाव रखने वालो से बहसें की और व्यवस्था के पक्ष को बलवान बनाया। चुनावो म हिस्सा लिया। लोग भी स्वतत्र जीवन जीत रहे। जो भी और जितना भी मिला खाकर बच्चे जनत रहे। पचवर्षीय योजनाएँ चलती रहीं। और एस ही दिन बीतते रहे।

परन्तु उक्त स्थिति को एकाएक झकझोरने वाली एक भीषण दुघटना हुई। 'चीनी भाइयो ने इस देश पर बबर आक्रमण कर दिया। दुनिया का सबसे बडा बौद्ध मठ बारूद का सबस बडा गादाम सिद्ध हुआ।' इसी आक्रमण म हुई हमारी शमनाक हार ने कवि की आस्था को तोड मरोड डाला। अपनी व्यवस्था मे उसका विश्वास अविश्वास मे बदल गया तब कहीं जाकर यहाँ के राजनेता और जनता क वास्तविक रूप का उसे बोध हो गया। जनतत्र के खोखलपन का उस भान हुआ। दूसरो की टट्टी क लिए अपनी पीठ पर उन ढोने वाली भेड-सी जनता और मदारी की भाषा जिसके प्राण हैं उस जनतत्र को देख कर कवि का मन खिन्नता से भर गया। अपनी आजादी के प्रति टूटी आस्था का पुनर्निर्माण करने के लिए लोक-चेतना को बार-बार देखने समझने की कोशिश करता रहा। लोक चेतना ही एक मात्र ऐसी शक्ति थी जो देश की खोयी प्रतिष्ठा को पुन प्राप्त करा दे सकती थी। वही एसी

शक्ति थी जो कवि के भीतर के असन्तोष का विष स्वयं पी सकती थी और उसे शान्ति दे सकती थी।

कवि की लोक चेतना की खोज जारी ही थी कि—

'तभी सुलग उठा पश्चिमी सीमान्त
ध्वस्त ध्वस्त ध्वान ध्वान'

और कवि चौंक उठा। पाकिस्तानी आक्रमण के प्रतिकार में इस देश को मिली सफलता ने चीनी आक्रमण के प्रतिकार में मिली असफलता का कलंक धो डाला। दृश्य बदला। पट-परिवर्तन हुआ। स्वाभिमान की भावना जन-जन के मन करण में व्याप गयी। परन्तु यह विजय की खुशी शान्तियात्री (स्व० लालबहादुर शास्त्री) की मृत्यु से छिन गयी।

शान्तियात्री की मृत्यु ने इस देश को पुनः एक बार हताशा-निराशा में ठेल दिया। यहाँ की व्यवस्था में एक ऐसी विकृति उत्पन्न हुई कि जिसको दूर कर सकना असम्भव लगता रहा। भूखों और अनाज भरे गोदामों की यहाँ एक ही साथ नुमाइश लगी। भाईचारे को भुना कर घोर स्वार्थ सिद्ध करने के लिए किसी भी तरह के जघन्य काम कर डालने पर लोग उतर आये। देश और धर्म के नाम पर, नैतिकता के नाम पर चालाक लोग अपरिमित सुविधाएँ भोगते रहे। यहाँ एक ऐसा अराजक उत्पन्न हुआ कि नैतिकता और व्यवहार का पूरी तरह से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। हर कोई बेचैन था परन्तु उसी के साथ बेबस भी था। हर कोई अपनी स्थिति को बदलना चाहता था परन्तु किंकर्तव्यमूढ़ बन बैठा था। इसी उलझन की हालत में कई *उल्टी-सीधी बातें सोचते हुये कवि भी थक कर चूर-चूर हुआ था। एक दिन उसे* अकस्मात् स्वप्न में स्वदेश–हिन्दुस्तान–का साक्षात्कार हुआ। स्वदेश के दर्शन से पहले तो कवि ने खुद को झकझोरे जाने का अनुभव किया। हिन्दुस्तान ने कवि को अपने लम्बे वक्तव्यों से प्रबोधित करना चाहा। कवि को उसकी स्थिति से अवगत कराने की उसने कोशिश की। उसे उसकी शक्ति से परिचित कराने का प्रयास किया और अपनी अव्यवस्था के साथ संघर्ष करने के लिए कवि को प्रेरित करते हुए कहा

'इसलिए उठो और अपने भीतर
सोये हुए जगल को
आवाज दो
उसे जगाओ और देखो—
कि तुम अकेले नहीं हो
और न किसी के मुहताज हो
लाखों हैं जो तुम्हारे इंतजार में खड़े हैं

वहाँ चलो। उनका साथ दो
और इस तिलस्म का जादू उतारने में
उनकी मदद करो और साबित करो
कि वे सारी चीजें अंधी हो गयी हैं
जिनमें तुम शरीक नहीं हो '

(स० 125–126)

कवि के हमशक्ल हिन्दुस्तान' के आवाहन से कवि आत्मालोचन में डूब गया। वह अपने कर्त्तव्य के लिए दिशा विशेष का चुनाव करने के लिए अनेक विकल्पों पर विचार करता रहा। सम्प्रति राजनीति में सक्रिय रूप से उतरने के लिए किसी संगठन के प्रति, वैचारिकता के प्रति प्रतिबद्धता का आधार और औचित्य खोजने में लगा ही था कि चौथा आम चुनाव आ धमका। यहाँ का आम–चुनाव क्या होता है वह तो हमारा एक पंचवर्षिक होलिकोत्सव होता है। व्यक्ति और समाज, सदस्य और संगठन, गली और दिल्ली के स्तर पर जितनी भी विकृतियाँ और विद्रूपताएँ हो सकती हैं उनका उन्मुक्त प्रदर्शन करने का अवसर होता है। इनका प्रदर्शन चल ही रहा था कि कवि ने देखा—उसके हमशक्ल–हिन्दुस्तान–की लोगों ने मट्टीपलीद करके रख दी है। वह मूच्छित होकर गिर पड़ा है। कवि उसे उठाने गया तो उसने कहा—

दुखी मत हो। यही मेरी नियति है।
मैं हिन्दुस्तान हूँ। जब भी मैंने
उन्हें उजाले से जोड़ा है
उन्होंने मुझे उसी इसी तरह अपमानित किया है
इसी तरह तोड़ा है।
मगर समय गवाह है
कि मेरी बेचैनी के आगे भी राह है'

(स० 132–133)

अपने साथ हुई ज्यादतियों को सहकर भी हिन्दुस्तान को इसमें बसने वालों की चिन्ता होती है। वह जानता है कि किसी भी तरह के दुर्व्यवहार के बावजूद उसके निवासी उसके अपने हैं और वह विश्वास करता है कि वे 'जीवित भविष्य के सुन्दरतम सपने हैं।' अपनी मातृ-भूमि अपने निवासियों से बालकों जैसा स्नेहभाव रखती है। उनके सुख और हित की चिर कामना करती है। कहते हैं कि एक बार किसी पत्नीपरायण ने पत्नी के बहकावे में आकर अपनी माँ का कलेजा उसे दे जाने की बात मान ली। माँ की हत्या कर के कलेजा निकाल लिया और पत्नी के पास

पहुँचने चल पड़ा। हड़बड़ी में वह गिर गया तो कलेजे से आवाज आयी—'बेटा, कहीं चोट तो नहीं आयी ?' माँ के अंत करण में सन्तान के लिए सुख-सौख्य और हित की कामना होती है उसी तरह की कामना 'हिन्दुस्तान' भी व्यक्त करता है। सभी प्रकार के अशिवों से देशवासियों को बचाने की उसकी इच्छा होती है। सबसे बड़ी अशुभ की आशंका इस देश के वासियों के लिए तो यही होगी कि ये पुन किसी महाशक्ति की एड़ी के नीचे न आएँ। इसलिए कवि से कहता है—

> 'तुम मेरी चिन्ता मत करो। इनके साथ
> चलो। इससे पहले कि वे
> गलत हाथों के हथियार न हों'
>
> (स० 133–134)

ये गलत हाथ भ्रष्ट सत्ताधारियों के भी हो सकते हैं। अत समूची व्यवस्था का बदलना का प्रयास आवश्यक है।

कवि उक्त दु स्वप्न, जिसमें उसके देश के साथ की जाने वाली ज्यादतियाँ देखी गयीं और उसके देश से उसे कुछ कर गुजरने का आदेश मिल गया, देख कर अचानक जाग जाता है। जब उसकी नींद टूटती है तो पुन अपने परिवेश को परख के लिए उद्यत हो जाता है। समसामयिक स्थितियों को समझने का प्रयास करता है तो उसे यही कुछ दिखायी देता है कि *आजादी के बाद बहुत ही सतही परिवर्तन हुवे* हैं। कवि के शब्दों में—

> हाँ यह सही है कि इन दिनों
> कुछ अर्जियाँ मंजूर हुई हैं
> कुछ तबादले हुए हैं
> कल तक जो नहले थे
> आज दहले हुए हैं
> हाँ, यह सही है कि इन दिनों
> मंत्री जब प्रजा के सामने आता है
> तो पहले से
> कुछ ज्यादा मुस्कुराता है
> नये नये वादे करता है
>
> (स० 136–137)

परन्तु यह सतही परिवर्तन मूल अव्यवस्था को नष्ट करने के लिए किसी भी प्रकार की सहायता नहीं करता। यहाँ की नौकरशाही ज्यों–की–त्यों है। ऊँचे पदों से चिपके रहने की कुप्रवृत्ति जैसी–की–वैसी है। यहाँ से हमदर्दी (सहानुभूति) पूरी तरह से समाप्त हो गयी है। यहाँ का समूचा बुद्धिजीवी वर्ग भ्रष्ट व्यवस्था का दलाल हो

गया है। यहाँ का समाजवाद उल्टा है। यहाँ की क्रांति की मुठ्ठी भीख माँगने वाली हथेली से बढ़कर नहीं है। और यहाँ की संसद तली की वह घानी है। जिसमें आधा तल। और आधा पानी है।' यहाँ ईमानदार दुःख उठाते हैं, सत्यवादी का हाल बुरा है। कुल मिलाकर यहाँ एक भीषण अव्यवस्था का घुप अंधेरा है और यह सारा देश एक कारागार है।

इस तरह स्व० धूमिल की 'पटकथा' कविता एक ओर उसके अपने समकालीन परिवेश के अंगप्रत्यंगों को स्पष्ट करने वाली है तो दूसरी ओर स्वयं कवि की रचनागत विशेषताओं का संपूर्ण परिचय भी देने वाली है। कविता का अंत रचनाकार की गहन निराशा का बोध कराने वाला अवश्य है परन्तु इस कविता का वह महत्वपूर्ण अंग नहीं है। इसमें वर्णित वह स्वप्न की कल्पना महत्वपूर्ण है जिसमें उसने हिन्दुस्तान को देखा था। हिंदुस्तान से कुछ सुना था। एक महादेश की नियति के स्वरूप को समझा था। जब-जब यहाँ किसी महान् क्रान्तिकारी मूल्य की स्थापना की कोशिश की गयी तब-तब यहाँ के प्रति क्रांतिवादी निवासियों का दुर्व्यवहार देखने में आया। यह जान कर कवि को अपनी समकालीन अव्यवस्था के दुःख को सह्य बना लेने में सहायता हुई-सी लगती है। सच तो यह है कि कविता के प्रारंभ से अंत तक राजनीतिक बोध के प्रभावों से कवि के मन में हुवे आन्दोलन स्पष्ट हुवे हैं। आस्था-अनास्था विश्वास अविश्वास, असशय-संशय और आशा निराशा के बीच झूलता कवि का मन अपनी समकालीन राजनीतिक घटनाओं के द्वारा ही नियंत्रित दिखाई देता है। यदि इस कविता की राजनीतिक चेतना को प्रधान मान लिया जाय तो तो उक्त स्वप्न में हिंदुस्तान से साक्षात्कार करने की कल्पना सर्वाधिक महत्व की ठहराई जा सकती है। क्योंकि इस कल्पना का स्वर आस्था का है। यद्यपि कवि अपने देश को कारागार करार दे भी देता है तो यह भी सच है कि बन्दी को बन्दीगृह से लगाव-आकर्षण उत्पन्न हो ही जाता है।

कविता की अन्तिम पंक्तियों से कविता के उद्देश्य पर पहुँचने की अपेक्षा 'स्वप्न प्रसंग' की योजना और उसके प्रभाव को महत्वपूर्ण मान कर कविता का विचार कर लेना आवश्यक है। मुझे तो यही लगता है कि मुक्तिबोध को स्व० निराला की दीर्घ कविता तुलसीदास की भाषा ने बहुत अधिक प्रभावित किया था, जिसका प्रमाण उनकी कविता 'अंधेरे में' की—

मन्द-तार उच्च निम्न स्वर-स्वप्न,
उदास उदास ध्वनि तरंगें हैं गंभीर,
(चाँद का मुँह टेढ़ा है पृ० 276)

जैसी पंक्तियों से मिलता है तो 'पटकथा' जैसी लम्बी कविता में 'स्वप्न की योजना' में भी उक्त ('तुलसीदास' की ही) कथावस्तु का प्रभाव दिखाई देता है।

हो सकता है विद्वान आलोचक मेरे इस मत से असहमत होंगे कि उक्त दोनो लम्बी कविताओ मे कही-न-कहीं निरालाकृत 'तुलसीदास' (के प्रभाव की मुखर) साक्षियाँ अवश्य मिल जाती हैं।

केवल स्वप्न की योजना की ही बात नहीं, 'पटकथा' की और भी कई विशेषताएँ हैं। कुछ विशेषताओं की चर्चा मैंने पूर्व-अध्यायो मे उचित सदर्भों मे की है। कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका सम्बन्ध धूमिल की कविताओ के शैली पक्ष से है जिसका विचार अभी आगे के अध्याय मे करना है। अन्तत केवल इतना जोड देना पर्याप्त होगा कि प्रस्तुत कविता ('पटकथा') को साद्योपान्त पढ जाने पर आजादी के बाद के बीस वर्षों मे इस देश मे उत्पन्न हुई स्थितियो के कई दृश्य देखने का अनुभव होता है। उन दृश्यो मे भी राजनीतिक घटनाओ से सम्बन्धित अधिकतर दृश्य हैं। अत लगती है कि यह कविता कवि की प्रधानत राजनीतिक चेतना को ही स्पष्ट करती है।

———

एकादश अध्याय

पहला काम कविता को भाषा-हीन करना है।

विद्वान आलोचकों ने स्व० धूमिल को एक बहुत बड़ा श्रेय दिया है। उनका कहना है कि उसने हिन्दी की समीक्षा का रुख कविता की ओर मोड़ा। इसका मतलब यह नहीं है कि धूमिल की कविताओं से पहले कविता पर समीक्षाएँ निकली ही नहीं। बल्कि वास्तविकता यह है कि समीक्षा और कविता का चोली दामन का साथ रहा है। धूमिल से कुछ ही पहले हिन्दी के कथा साहित्य ने समीक्षा को अपनी ओर बरबस आकर्षित कर रखा था। वह भी इसलिये कि समसामयिक स्थितियों को अपने में प्रतिबिम्बित करने की अपार क्षमता उक्त कथा-साहित्य में थी। जब कवि धूमिल की रचनाओं में भी समकालीन जीवन सन्दर्भ उभरने लगे तो समीक्षा को विवश होकर उसकी ओर ध्यान देना पड़ा। उक्त रचनाओं के अन्तरंग की झलकियाँ मैंने पिछले पृष्ठों में प्रस्तुत की है। समीक्षा-समालोचना के लिये भाव के साथ शिल्प-पक्ष का विचार भी अनिवार्य होता है। उसका भी विचार स्व० धूमिल की रचनाओं के सन्दर्भ में अनेक विद्वानों ने किया है। नयी कविता में शिल्प का विचार करने के लिये कोई बहुत बड़ा अवसर नहीं रहता। न छन्दों का विचार आवश्यक होता है न काव्य रूपों का। फिर भी कविता की भाषा और कविता में बिम्बों प्रतीकों की योजना का विचार नयी कविता के शिल्प को समझने के लिये आवश्यक माना गया। भाषा का विचार तो कविता के शिल्प से बहुत पुराने समय से जुड़ा है। प्रतीक और बिम्ब अवश्य नयी कविता की नयी विशेषताओं के रूप में सामने आये हैं।

काव्य भाषा का विचार इसलिये आवश्यक होता है कि वह विशिष्ट होती है। स्व० जयशंकर प्रसाद की कामायनी को पहली बार पढ़ने वाला साधारण पाठक उसकी भाषा की सुन्दरता के प्रभाव में बंध जाता है। उक्त रचना के भावों को और दर्शन को समझने के लिए उसे कई बार पढ़ना पड़ता है। भाषा की सुन्दरता के भार से मुक्त होकर आगे बढ़ने पर ही भावों का बोध सम्भव होता है और भावों की भूल

भूमिका से बाहर निकल आने पर ही दर्शन समझ की वस्तु बन सकता है। नयी कविता में भाषा की सुन्दरता का सम्मोहन कथ्य और पाठकों के बीच खड़ा नहीं किया जाता। सम्प्रेषणीयता को आसान बनाने के लिये भाषा के सौंदर्य की अपेक्षा उसकी सार्थकता का अधिक ध्यान रखा जाता है। इसी कारण से स्व० धूमिल की कविता की समीक्षा में उसके शब्दों को 'पाठकों के कलेजे में चाकू-छुरे-से उतरने वाले' कहा जाता है। क्योंकि उसकी भाषा ही ऐसी है। मेरी अपनी अनुभूति यह है कि 'कामायनी' की भाषा मुझे मीठी-मीठी लोरियाँ सुना कर सुलाने वाली लगी थी तो धूमिल की कविताओं की भाषा ऊंघते हुए व्यक्ति के दोनों कंधों को पकड़ कर झकझोरती-सी लगी है। शब्दों के सटीक और सार्थक प्रयोग में उक्त कवि की जागरूकता-सतर्कता अद्भुत है। इसका प्रमाण यही है कि उसकी कविताओं में कोई शब्द फालतू नहीं आया है। किसी भी एकाध शब्द को हटाकर होने वाले कविता के अर्थान्तर की चर्चा होती रहती है। परन्तु धूमिल की कविता के संदर्भ में अर्थान्तर की बात करना इसलिये बेकार है कि उसमें एकाध शब्द हटाने पर कविता ही निरर्थक हो जाती है। इसका स्पष्ट अर्थ यही होगा कि बहुत नाप-तौल कर शब्दों का प्रयोग उसकी कविता में हुवा है। वस्तुस्थिति तो यह है कि शब्दों का प्रयोग नाप-तौल कर हुवा हो या न हुआ हो परन्तु इतना निश्चित है कि अत्यावश्यक और कम से कम शब्दों से ही विचार और भाव के अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण का काम लिया गया है। इसीलिये उसमें सांकेतिकता और सांकेतिकता के माध्यम से दुरूहता भी कभी कभी देखी जा सकती है।

स्व० धूमिल की कविताओं का शैली-पक्ष (शिल्प) का विचार करने में सर्वोपरि स्थान भाषा को ही देना इसलिये आवश्यक है कि विद्वान आलोचकों का विश्वास है कि उसने हिन्दी कविता को एक नयी भाषा दी है। वैसे युक्ति-प्रयुक्तियों, तर्क-वितर्कों का सहारा लेकर यह प्रस्थापित किया जा सकता है कि हर किसी कवि की भाषा अपनी अलग पहचान रखती है। परन्तु यहाँ उसकी आवश्यकता नहीं है। लेकिन इस सच्चाई को भी भूलना ठीक नहीं होगा कि कवि-कर्म अनुकरण-अनुसरण प्रधान होता है। प्रायः सभी नये-नये लिखने वाले अपने-अपने किसी आदर्श कवि की रचनाओं के प्रभाव में बँधकर लिखना शुरू कर देते हैं। परिणामतः कम-से-कम शिल्प का अनुकरण अनुसरण उनके लिये अनिवार्य होता है। शैली या शिल्प की सबसे पहले उभरने वाली विशेषता तो भाषा से ही सम्बद्ध होती है। कवि-कर्म शब्द, शब्दार्थ और फिर भाव या विचार की स्थितियों में क्रमशः गुजरता है। किसी विख्यात कवि की भाषा का ही सबसे पहले अनुकरण होता है। इसीलिये किसी प्रतिभाशाली कवि की भाषा की छाप दूसरे कवियों पर बहुत समय तक देखी जा सकती है। आधुनिक हिन्दी-कविता में स्व० पन्त और स्व० निराला की भाषा का प्रभाव नयी कविता के उदयकाल तक बना रहा। युग और युग प्रवृत्तियों के परिवर्तन की छाप कविता के

भाव ही नहीं भाषा पर भी पड़ता है तो काव्य-भाषा का बदलना स्वाभाविक ही होता है। स्व० धूमिल तो नई कविता और उससे भी आगे की 'ताजी कविता' की सीमा रेखा पर उत्पन्न हुआ था। साठोत्तरी कवियों की पीढ़ी के काव्य-क्षेत्र के ऐन अराजक काल में वह उत्पन्न हुआ था। अराजक की स्थिति में किसी आदर्श को ही कोई स्वीकार नहीं करता तो उसके अनुकरण और अनुसरण की बात बहुत दूर की रही। ऐसे समय हर किसी को अपनी राह आप बनानी पड़ती है। यह काम धूमिल को भी करना पड़ा। मैंने उपमानों का बहिष्कार स० ह० वात्सायन 'अज्ञेय' ने किया था। उपमानों के साथ पुरानी पड़ी भाषा को भी नकारा था। धूमिल ने तो भाषा के प्राय सभी पूर्व-प्रचलित स्वरूपों सकेतों को अस्वीकृत कर दिया और एक नई भाषा को गढ़ लिया। नयी काव्य-भाषा को गढ़ने का उसे श्रेय देना उस पर लाञ्छन लगाने जैसा दु साहस का काम है। वह तो कविता को 'भाषा-हीन' करना अपना पहला काम समझता था। काव्य-भाषा और काव्य प्रतीकों, बिम्बों पर उसकी सुस्पष्ट धारणा उसके एक निबन्ध 'कविता पर एक वक्तव्य' देखने को मिलती है। उद्धरण की लम्बाई को जान कर भी उसे प्रस्तुत करने का जोखिम उठाना चाहूँगा। उसने लिखा है—"सही बात कहने में बड़ी कठिनाई है भाषा की। कम-से-कम सही शब्दों की तलाश, जिससे चीज को उसके पूरे आकार और ध्वनि-सम्बन्धों के साथ फ्रेम किया जा सके। अब तक कविता के लिये विशिष्ट 'काव्य-भाषा' प्रचलित रही है, जिसके चलते हिन्दी काफी समृद्ध भी हुई है। इस कथित 'काव्य-भाषा' ने अनेक महान् पद्यकार पैदा किये हैं। 'कवि' शब्द का प्रयोग उनकी महानता से अभिभूत मैं सकोचवश नहीं कर रहा हूँ। विद्यालयों ने काव्य-ग्रन्थों और शब्द-कोशों को एक ही स्तर पर समादृत किया है। परिणाम स्वरूप वस्तु और ध्वनि के बीच कविता की भाषा एक दीवार बन गयी है। अर्थात् भाषा और काव्य भाषा का अन्तर स्पष्ट किये बगैर सच्चाई तक जाना कदापि सभव नहीं। क्योंकि काव्य-भाषा ने आधुनिक रुचि-बोध को एक गलत दिशा दी है। कविता पढ़ने के पहले ही हमारे मन में यह बात बैठ जाती है कि कविता पढ़नी है और इस प्रकार हम अनजाने ही 'काव्य भाषा' के आतंक के शिकार हो जाते है। निश्चय ही 'काव्य-भाषा' कुछ को छोड़ कर आधुनिक कवियों की व्यवस्था बन गयी है। क्योंकि यह उनकी जीविका के उद्गम-स्थान से सम्बद्ध है। इस सदर्भ में पहला काम कविता को 'भाषा-हीन' करना है। साथ ही अनावश्यक बिम्बों और प्रतीकों से भी उसे मुक्त करना है। कभी-कभी (या अधिकांशत) प्रतीकों और बिम्बों के कारण कविता की स्थिति उस औरत जैसी हास्यास्पद हो जाती है जिसके आगे एक बच्चा हो, गोद में एक बच्चा हो और एक बच्चा पेट में हो। प्रतीक-बिम्ब जहाँ सूक्ष्म-सांकेतिकता और सहज सम्प्रेषणीयता में सहायक होते हैं, वहीं अपनी अधिकता से कविता को 'ग्राफिक' बना देते है। आज महत्व शिल्प का नहीं, कथ्य का है। सवाल यह नहीं कि आपने किस तरह

कहा है, सवाल यह है कि आपने क्या कहा है ? इसके लिये आदमी की जरूरतों के बीच की भाषा का चुनाव करना और राजनैतिक हलचलों के प्रति सजग दृष्टिकोण कायम रखना अत्यन्त आवश्यक है।"

(नया प्रतीक फरवरी, 78 पृ० 4–5)

उपर्युक्त उद्धरण से यद्यपि स्व० धूमिल की कविता को भाषा से मुक्त करने की इच्छा झलकती है परन्तु भाषा के बिना कविता का अस्तित्व ही सम्भव कहाँ ? वैसे कवि का मन्तव्य स्पष्ट है कि व्यक्ति और कविता के बीच दीवार बनने वाली भाषा को वह चलती नहीं देखना चाहता। कवि की आस्था तो नयी कविता की विशेष प्रवृत्ति के रूप में मान्यता-प्राप्त प्रतीक और बिम्ब योजनाधिक्य में भी नहीं है। यह सब कुछ होते हुए भी स्वयं कवि धूमिल 'शिल्प' को उपेक्षित नहीं रख सका। वास्तविकता तो यही दिखायी देती है कि वह अपना ही काव्य-शिल्प गढ़ने और विकसित करने में कुछ ऐसा खो-सा गया कि उसके कथ्य पर दुरूहता के दोष का ठप्पा लग गया। भाषा को गढ़ने, बढ़ाने और माँजने की उसकी लालसा ने उससे अपनी अनेक कविताओं में कई असम्बद्ध परन्तु अपने में ही चमत्कारी अर्थ वाली उक्तियों को रखवा दिया। उसकी निजी काव्य-भाषा के प्रति सतर्कता और सलग्नता का संकेत करते हुये डॉ० विद्यानिवास मिश्र जी ने लिखा है—

"धूमिल की कविता के बारे में कहने से पहले इस कविता की भाषा के बारे में कुछ कहना जरूरी हो जाता है, सिर्फ इसलिये नहीं कि भाषा में मेरा पेशाई सरोकार कुछ ज्यादा है, बल्कि इसलिये अधिक कि धूमिल ने भाषा से सरोकार अपने समकालीन बहुत से रचनाकारों में कुछ ज्यादा रखा। यह भाषा से सरोकार चौंकाने के लिये नहीं है, न आंचलिक या भेदस छटा देने के लिये है, यह सरोकार है—जीवन में सम्पृक्त व्यक्ति के खुरदुरे पर कारगर अनुभव को उसके अनुरूप आक्रामक अभिव्यक्ति देने के लिये है। कहीं-कहीं मुझे यह आक्रामकता कुछ अतिरिक्त लगती है, शायद यह उतावले धूमिल की लाचारी रही हो कि वे अपने को रोक नहीं सकते थे, यहाँ तक कि जब वे अपनी दैहिक यंत्रणा से हारने लगे, तब भी यह आक्रामक-भाव नहीं जाता,

'मेरा जीवन लार टपकती हुई नेकर का नाडा है
मुझे मेरे दद ने पछाडा है।'

पर धूमिल की जबान का तीखापन एक जगह झुक जाता है। धूमिल मूलतः घर-बारी इन्सान हैं, घर से, माँ से, घरनी से, बच्चों से उनका लगाव गहरा है, इसलिये सारी दुनिया पर उन्हें क्रोध आता है, खीझ होती है, खुद अपने पर खीझ होती है —

'मेरे गाँव में
वह आलस्य, वही ऊब
वही कलह, वही तटस्थता

हर जगह और हर रोज
और मैं कुछ नही कर सकता
मैं कुछ नही कर सकता

पर उन्ह एक आशा बराबर सहलाती रहती है, अनागत की एक खिलखिलाहट उनके बगल म उभरती रहती है।

चालक गिलहरियों का पीछा करती हुई दुधमुही निर्मी

जिसम एक भी दान
शरीक नहीं है।

जिन लोगो ने धूमिल की फोश भाषा का बहुत जिक्र किया उन्हे ऊपर की पक्तियाँ ध्यान म पढनी चाहिए। दन्तहीन शिशु की किलकारी (प्रयत्न प्रहित्र सहज उत्फुल्लता) ही धूमिल का वास्तविक चित्र है। (कल स-स)

स्व० धूमिल का भाषा पर उपयुक्त उद्धरणों स एक बात ध्यान म आती है—मैं उक्त विषय पर उद्धरणो की अधिकता का सहारा ले रहा हूँ। यह भी मरा हेतुत काय है। बहुत साफ-साफ शब्दो म बात करती हो तो मैं साधारण सडी बोली हिन्दी के चार अक्षर तो पढ समझ सकता हूँ परन्तु जिसम आचलिकता का पुट हो उस भाषा की बारीकियो का समझना मरे लिए कठिन होता है। जो विषय समझ से बाहर का लगता हो उसको समझने के लिए विद्वान-अधिकारियो की सम्मतियो क आश्रय म जाना कोई अनौचित्य नही है। भाषा और वह भी धूमिल की काव्य भाषा के बारे म डॉ० विद्यानिवास मिश्र जी की राय मरे लिए सबस अधिक स्वीकाय और ग्राह्य लगी अत मैने उस विस्तार के दोष स वाकिफ होकर भी उद्धृत कर देना आवश्यक समझा है।

वस्तुत काव्य-भाषा ही एक झमेला-सा है। प्रायोगिक स्तर पर भाषा को चार वर्गों म और काव्य भाषा को अन्तिम वग म रखत हुए श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी न लिखा है—

सामान्य दृष्टि से भाषा के चार प्रयोग-स्तर हो जाते हैं—बोलचाल की भाषा गद्य की भाषा, सृजनात्मक गद्य की भाषा और कविता की भाषा।' (भाषा और सवेदना-14)

स्पष्ट है कि उपर्युक्त वर्गीकरण का आधार भाषा की सप्रेषणीयता के आधार पर किया गया सा लगता है। वस्तुत इसी आधार पर एक और पाँचवे भाषा-स्तर की भी कल्पना अनुचित नहीं होगी—समीक्षा की भाषा! और यहाँ उस पर कुछ भी लिखने का उचित प्रसग नहीं है।

मैं काव्य-भाषा की ही बात करना चाहूँगा। बोलचाल की भाषा और कविता की भाषा में सबसे मूलभूत भेद होता है—प्रतीकात्मक अभिव्यंजकता का। बोलचाल भाषा भी प्रतीकों से रहित नहीं होती। क्योंकि शब्द स्वयं में ही प्रतीक होते हैं। 'सूरज' शब्द बोलचाल की भाषा में केवल उसी ग्रह का प्रतीक होता है जिसके निकल आने पर दिन का आरम्भ होता है और जिसके डूब जाने पर, दिवस का अवसान होने पर, रात्रि का आरम्भ हो जाता है। परन्तु कविता में वही शब्द न जाने कितने कितने प्रतीक अर्थों की अभिव्यंजना करता है। सबसे पहले तो उस शब्द के समानार्थी दूसरे शब्द गढ़े जाते हैं जैसे मित्र, सूर्य, भानु, रवि, मार्तण्ड आदि और फिर अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार उनका प्रयोग होता रहता है। किसी समय ऐसे समानार्थक शब्द कविता में छन्दों का निर्वाह करने के लिए बड़ी सुविधाएँ उत्पन्न कर देते रहे थे परन्तु आज उन सुविधा की आवश्यकता नहीं बची है। क्योंकि कविता होने के लिये छन्दों की ही शर्तें टूट गयी हैं। जहां तक अलग अलग प्रतीकार्थों को अभिव्यंजित करने की शक्ति का सवाल है, हर क्षेत्र में उसका स्वरूप बदलता रहा है। सूरज (सूय) का भारतीय हठयोग की साधना में प्रतीकार्थ अलग होगा और कविता में सूरज एक बिल्कुल ही भिन्न अर्थ देने लगेगा। प्रतीकार्थ की एकरूपता बोलचाल की भाषा के शब्द का होता है तो अनेक-रूपता काव्य-भाषा में प्रयुक्त शब्द का गुण माना जाता है। इसी से जनसाधारण और कविता में कोई सम्बन्ध नहीं रहता। परन्तु नये कवियों ने उस सम्बन्ध को स्थापित करने की पहल की। इसके लिये वे कविता की रूढ़ शब्दावली को छोड़ कर सृजनात्मक गद्य, साधारण गद्य और बोलचाल की भाषा से शब्दों को चुन कर अपनी रचनाओं की सम्प्रेषणीयता की परिधि को जनसामान्य की पहुँच तक बढ़ाने के लिये प्रयास करते रहे। स्व० धूमिल ऐसे नये कवियों का अग्रगामी बना। यही उसकी महत्ता है। इस काम में उसे अपनी काव्य-भाषा को साधारण लोगों की बोलचाल के साथ जोड़ना पड़ा इसीलिये प्रतिष्ठितों ने उस पर भदेस होने का अभियोग भी लगाया।

काव्य-भाषा के संदर्भ में एक और बात की चर्चा करनी होगी। इससे पहले कि स्व० धूमिल की काव्य भाषा की समृद्धि और सम्पन्नता की बात करूँ काव्य-भाषा की दरिद्रता और विपन्नता के कारणों को समझना होगा। मैंने इससे पहले 'हर शब्द एक प्रतीक होता है' कहा है और बोलचाल की भाषा के साथ भदेसपन जुड़ा होने का अप्रत्यक्ष रूप से संकेत दिया है। ये विचार आज की समीक्षा में बहुत रूढ़ हैं। इनमें मैंने अपनी ओर से न कुछ जोड़ा न घटाया है। उक्त दोनों विचारों के अन्त सम्बन्धों को स्पष्ट करना मैं आवश्यक मानता हूँ। आखिर क्या कारण है कि बोलचाल की भाषा से भदेसपन और अभिरुचि की पर्यायिकृत चिपका दी जाती है? बोलचाल की भाषा को सामान्यत्व और काव्य-भाषा को अभिजात्य के साथ जोड़ कर देखने या हमारे अन्तर्चेतन में कहीं विश्वास

बराबर पलता रहना है। यह हमारे आज तक के साहित्य के स्वरूप से ही जुड़ा संस्कार होता है। इसमें यह भी धारणा कहीं अवश्य दबी होती है कि बोलचाल की भाषा का प्रयोगकर्ता सामाजिक वर्ग काव्य भाषा-बोध की स्थिति तक पहुँच नहीं सकता। क्योंकि उसका भाषा का ज्ञान परिमित और एक विशिष्ट सीमा से आगे न बढ़ने वाला होता है। इसमें कोई बहुत बड़ा झूठ निहित है यह मैं नहीं कहता परन्तु मेरा विश्वास है कि इस कमजोरी के लिये हमारे जीवन में मिलने वाली सुविधाएं जिम्मेदार होती हैं। कभी कवि के लिये कहा जाता था कि वह दैवी प्रतिभा शक्ति से सम्पन्न होने से साधारण से विशेष होता है। उसका यह विशेष होना तभी सिद्ध होता था जब उसे राज दरबार में आश्रय मिलता था। राज-दरबार का आश्रय सुविधा भोग के अवसर का प्रतीक था। इस सुविधा भोग के अवसर का सबसे अंतिम और अनिवार्य रूप होता था कवि के योग-क्षेम का दायित्व दूसरों से स्वीकारा जाना। बहुत कम कवि ऐसे हुये होंगे जो दिन भर अपनी जीविका के लिये खटते होंगे और रात में उनकी प्रतिभा जागती होगी तो काव्य रच लेते होंगे। इस प्रकार के दोहरे कर्म का कौशल नये कवियों ने अवश्य दिखाया परन्तु उनका आजीविका के अर्जन के लिये खटना बौद्धिक काम करने तक सीमित रहा इसलिये श्रमिकों के जीवन की अनुभूतियों को कविता में लाकर उन्हें भदेसपन से मुक्त करने की उनमें शक्ति न रही। धूमिल को मैं इसका अपवाद मानता हूँ।

सुविधा भोग के अवसर से अभिरुचि का तथाकथित परिष्कार संभव होता है। जैसा कि माचीराम कहता है— सच्चाई सबसे होकर गुजरती है और आग सबको जलाती है।' यह अनुभूतिगत समानता का बोध हुआ। इससे भी आगे बढ़कर यदि अभिरुचि की बात करनी हो तो उसी तर्ज पर कहा जा सकता है कि मुलायम स्पर्श, खुशबू और नयन रम्य रंग सभी को आकर्षित करते हैं। वस्तु की सुघड़ाई सभी को पसन्द होती है। सुस्वाद को सभी की जिह्वा पसन्द करती है। परन्तु इन सबके (उप) भोग का अवसर सभी को एक-सा नहीं मिलने से उत्पन्न विषमता की स्थिति अभिरुचि की परिष्कृति पर आधारित भेद उत्पन्न कर देती है। हमारी ज्ञानेंद्रियाँ वस्तु-बोध के सहारे अनुभूतियों को समृद्धि देती हैं। और वस्तु-बोध का भाषा के क्षेत्र में वस्तु-नाम के (शब्दों के) रूप में आने वाले प्रतीकों से सम्बन्ध होता है। बात कुछ उलझ-सी गयी है। इसे सुलझा कर कहना चाहूँ तो कविता में आने वाले कई स्थूल प्रतीक भी साधारण लोगों की पहुँच के बाहर हो जाते हैं। सूक्ष्म प्रतीकों बिम्बों की बात तो दूर की है। बहुत स्थूल रूप में कहना तो भौतिक अभावों में पलने वाले व्यक्ति की अनुभूतियों को समृद्ध होने का अवसर बहुत कम मिलता है। यही कारण है कि कविता आज तक भौतिक समृद्धि का जीवन बिताने वाले सामाजिक वर्ग के बाह्य और आन्तरिक वैभव का अधिक वर्णन करती रही है। किसी अकिंचन के अभाव का वर्णन उसमें कम होता है।

किसी भी व्यक्ति की अभिरुचिगत परिष्कृति के लिये अनुभूतियों की समृद्धि और अनुभूतिगत समृद्धि के लिये भौतिक दृष्टि से भी सम्पन्न जीवन का अवसर आज भी आवश्यक है। कल तक तो यह अनिवार्य था। अनिवार्यता से आवश्यकता तक यह इसलिये नीचे आ पहुँचा है कि आज पत्र-पत्रिकाओं का और पुस्तकों का प्रसार अनेक वस्तुओं के हमारे ज्ञान आधार हो चुका है। मैं यह बात हेतुत इसलिये कह रहा हूँ कि यह बता सकूँ कि आज का अपेक्षाकृत कम स्वानुभूतियों वाला कवि भी एक व्यापक स्तर की बात कर सकता है। ऐसा करने में उसे 'शब्दों का अकाल' कभी नहीं सताता। परन्तु मुफलिसी में जीते हुवे अर्जित किये गये शब्द-ज्ञान की अमीरी का प्रमाण बहुत कम कवियों की रचनाओं में मिलता है। अनेक शब्दों के अर्थ का ज्ञान किसी की भाषा की सम्पन्नता परिचायक नहीं होता बल्कि उन शब्दों को उचित प्रसंग पर चुनने का कौशल ही उसकी भाषा की समृद्धि की साक्षी होता है। यही कौशल शब्द-कोश और महाकाव्य में अन्तर कर देता है। यह सारी बातें स्व० धूमिल की भाषा के बारे में कुछ कहने की भूमिका को बाँधने के लिये कह रहा हूँ। मैं अपनी ओर से उक्त विषय पर कुछ कहने से पहले पुन: एक बार डॉ० विद्यानिवास मिश्र जी के एक मन्तव्य को उद्धृत करना चाहूँगा —

" सारी उम्र चमकने की कोशिश में धूमिल का एक भी शब्द (यहाँ तक कि पीतल का शब्द भी) मैला या पीला नहीं रहने पाया वह भी माँज कर चमका दिया गया। गरीबी के चित्र गैर गरीब लोगों ने खींचे हैं, गरीबी में भिनने वाले लोगों ने खींचे हैं, पर गरीबी की भाषिक सम्पन्नता में जीने वाले शायद अकेले धूमिल हैं जिनकी 'करछुल बटलोही से बतियाती है' (क्योंकि बात बात है वहाँ और कुछ नहीं) 'चिमटा तवे से मचलता है' जिनके घर 'चूल्हा (मन का ताप) कुछ नहीं बोलता, चुपचाप जलता-रहता है, वहाँ पहले 'थाली खाती है', तब आदमी 'रोटी खाता है।' इस अभाव की दर्दनाक परिणति यह होती है कि आदमी को घर से बाहर निकल जाने पर लालबत्ती चौराहे पर जब वह रुकता है, तो हौले से एक दर्द हिरदे को हूल' जाता है—

'ऐसे क्या हड़बड़ी कि जल्दी में पत्नी को

चूमना—

देखो, फिर भूल गया।'   (कल-ग)

'किस्सा जनतंत्र' की उक्त पंक्तियाँ एक निर्धन की घर-गृहस्थी का सुन्दर प्रतीकात्मक चित्र प्रस्तुत करने वाली कविता की अन्तिम पंक्तियाँ हैं। इन पंक्तियों से पहले आये करछुल, बटलोही, चिमटा, तवा आदि सभी शब्दों का सम्बन्ध उसी कविता से है। गरीबी की भाषिक सम्पन्नता का अन्यतम उदाहरण उक्त रचना को इस आधार पर माना जा सकता है कि एक अभावग्रस्त जीवन को भी कवि सार्थक शब्द

दे सकता है। वस्तुतः वैभव-सम्पन्न जीवन का वर्णन करना कवि के लिए अपेक्षाकृत आसान काम होता है परन्तु विपन्नता से ग्रस्त जीवन का चित्रण कठिन होता है। क्योंकि वैभव-संपन्न जीवन में भावात्मक प्रसंगों के वर्णन के लिए अनेक अवसर होते हैं जो भौतिक सुविधाओं के कारण उपलब्ध होते हैं। परन्तु इन्हीं सुविधाओं के अभाव के कारण विपन्नता-ग्रस्त जीवन में वे अवसर उपलब्ध नहीं होते। मैं अपनी इस धारणा को हमेशा शहर और देहात के जीवन से दृष्टान्त जुटा कर स्पष्ट करता रहता हूँ। मान लो कि दो समवयस्क युवतियाँ हैं। दोनों के हृदयों में प्रेम भावना के अंकुर फूटे हैं। एक शहर की रहने वाली और पढ़ने वाली है। दूसरी देहात में रहने वाली और अपढ़ है। दोनों के प्रेमी भी हैं। यदि दोनों युवतियों के मन करण की प्रणय-भावना का चित्रण कविता-कथा में करना हो तो शहर की युवती के जीवन पर ही लिखना सरल होता है। घर-परिवार वालों की वर्जनाओं का अवरोध हटा कर प्रेमी प्रेमिका को कविता कथा में मिलाना हो तो शहरी जीवन अधिक सुविधाजनक लगता है। शहर की युवती दिन-दहाड़े अपने प्रेमी से सिनेमा के थिएटर में, बस में दिल खोल कर मिल सकती है। घर में यह कह कर वह घर से बाहर आ सकती है कि उसकी प्रैक्टिकल करने जाना है अथवा एक्स्ट्रा पीरियड अटेंड करने जाना है। यह जीवन से जुड़ी सुविधा का ही परिणाम है कि ऐसे अवसर ढूँढ़े जा सकते हैं। देहाती जीवन में यह संभव नहीं हो पाता। इसका मतलब यह नहीं है कि वहाँ ऐसे अवसरों का नितान्त अभाव ही होता है और जिसके कारण देहाती व्यक्ति के हृदय में प्रणय की भावना ही नहीं होती। यह भावना तो शहर और देहात का अन्तर नहीं जानती। तब उस प्रतिभा को सराहना पड़ता है जो असुविधाजनक जीवन में भी सरस-सार्थक और मर्म-स्पर्शी प्रसंगों की खोज करती है और उनका वर्णन करने के लिए उतने ही सुरुचि संपन्न, सार्थक शब्दों को जुटाता है। सीधी-सादी जिंदगी को काव्य का वर्ण्य बनाना इसीलिए कठिन होता है कि उसके वर्णन के लिए शब्द सूझते नहीं। भाषा सहायक होती नहीं। यदि उक्त कठिन कार्य करने में किसी को सफलता मिली हो तो उसकी भाषा की समृद्धि संदेह से परे की वस्तु होती है। ऐसी ही सन्देह से परे की वस्तु है स्व० धूमिल की काव्य भाषा की समृद्धि।

किसी समय ग्रामीण जीवन के भौतिक वैभव के अभाव की पूर्ति प्रकृति के शाश्वत उपादानों को जुटा कर की जाती थी। परन्तु आधुनिक कवियों ने उन्हें पिष्ट पेषित जानकर त्याग दिया। धूमिल तक आते आते काव्य भाषा के लिए शब्दों को चुनने पर इतनी सीमाएँ निर्धारित हो गयीं कि कोई कवि अपनी अपनी प्रियतमा के दमकते मुख को चन्द्रमा-सा कहने का साहस नहीं जुटा सकता था क्योंकि तब तक चन्द्रमा पर नील आर्मस्ट्रांग उतर चुका था और चाँद का खुरदुरा ऊबड़-खाबड़ रूप प्रकट हो चुका था। उसे वह सड़क के किनारे चमकते दुधिया लट्टू भी नहीं कह सकता था क्योंकि उन लट्टुओं के साथ शहरी होने की अभीप्सा बँधी थी और

उन लट्टुओं का स्थान बहुत तेजी के साथ 'ट्यूब लाईट्स' और 'मरक्यूरी लाईट्स' ले रही थी जिससे उनके साथ भी तात्कालिकता का दोष चिपक गया था। ऐसे सभी उपादानों को तिलांजलि देकर भी अभावग्रस्त जीवन पर मर्मस्पर्शी कविता लिखने के लिए मायावी जादूगरी के सिवा भला और क्या कहा जा सकता है? यही जादूगरी स्व० धूमिल की 'किस्सा प्रजातंत्र' में मौजूद है। इसी जादूगरी ने डा० विद्यानिवास मिश्र जैसे दिग्गज भाषाज्ञानी को भी मोह लिया है। स्व० धूमिल की उक्त कविता को उसकी काव्य-भाषा की समृद्धि का अनन्य उदाहरण जानकर मैं विस्तार के दोष का भागी बनकर भी उसके कुछ अंश उद्धृत करना चाहूँगा।

करछुल—
बटलोही से बतियाती है और चिमटा
तवे से मचलता है
चूल्हा कुछ नहीं बोलता
चुपचाप जलता है और जलता रहता है
औरत—
गवें गवें उठती है—गगरी में
हाथ डालती है
फिर एक पोटली खोलती है।
उसे कठवत में झाड़ती है
लेकिन कठवत का पेट भरता ही नहीं
पतर मुही (पैथन तक नहीं छोड़ती)
सरर फरर बोलती है और बोलती रहती है
चौके में खोई हुई औरत के हाथ
कुछ भी नहीं देखते
वे केवल रोटी बेलते हैं और बेलते रहते हैं

...

घुल रोटी तीन
पहले उसे थाली खाती है
फिर वह रोटी खाता है

...

चमन पड़ी से निकल कर
अंगुली पर आ जाता है और जूता
पैरों में, एक दत टूटी कंघी
बालों में जाने लगती है

... ...

एक फटहाल क्लर्क कालर—
टाँगों में मकड़ भरता है
और खटर पटर ढड्ढा साइकिल
लगभग भागते हुए चेहरे के साथ
दफ्तर जाने लगती है
सहसा चौरस्ते पर जली लाल बत्ती जब
एक दर्द हौले से हिरदै को हूल गया
ऐसी क्या हड़बड़ी   फिर भूल गया।

(कल 16, 17, 18 पृष्ठ)

उपर्युक्त कविता चाहे जितनी अच्छी हो, आलोचकों की दृष्टि में कविता की भाषा को उसकी कोई विशेषोल्लेखनीय देन नहीं है। स्व० धूमिल ने अपने समय की प्रचलित काव्य-भाषा के विरुद्ध विद्रोह किया था। उसका विद्रोह केवल नकारात्मक नहीं था। उसने अपनी काव्य भाषा के रूप में विकल्प भी प्रस्तुत किया था, भले ही उसने कोई मसीही अन्दाज में अपने विकल्प को स्वीकारने की किसी को सलाह नहीं दी। इतना ही नहीं बल्कि उसने तो अपनी काव्य-भाषा को किसी भी काव्य-भाषा का विकल्प तक नहीं माना। यदि कोई विद्रोही किसी व्यवस्था को मिटाना चाहता है, तो अन्य क्षेत्रों की बात जाने दीजिए कम-से-कम कविता के क्षेत्र में तो यही देखा जाता है कि एक वैकल्पिक व्यवस्था को वह अनजाने में ही प्रस्तुत करता जाता है। यही धूमिल ने किया। उसकी काव्य-भाषा अनेक विशेषताएँ लेकर प्रकट हुई। जिन्हें मैं ग्रहण कर सका हूँ उनमें से कुछेक का वर्णन संक्षेप में इस प्रकार कर सकता हूँ।

स्व० धूमिल की काव्य-भाषा मेरी दृष्टि में इसलिए विशेष महत्त्व रखती है कि उसमें पूर्व अप्रचलित (अर्थात् काव्य में) शब्दों का प्रयोग किया गया है। काव्य में अप्रचलित शब्दों के दो वर्ग होते हैं। एक वह वर्ग होता है जो पूर्वकाल में प्रचलित और खूब प्रचलित रह कर अपनी सार्थकता खो बैठता है और इसलिए उन्हें अप्रचलित रखा जाता है। दूसरा वर्ग वह होता है जो जनता के व्यवहार में प्रचलित और खूब प्रचलित रहकर भी अपनी सार्थकता को काव्य में स्थापित नहीं कर पाता। प्रतिभाशाली कवि ऐसे (दूसरे वर्ग के) शब्दों को खोज-खोज कर अपनी रचनाओं में स्थान देता है जिससे उन शब्दों के मूल्य के साथ-साथ उन रचनाओं का भी महत्त्व स्थापित हो जाता है। स्व० धूमिल ने यही और ऐसा ही किया। पिछले किसी अध्याय में मैंने इस बात का निश्चित संकेत किया है कि स्व० धूमिल लोगों के साथ बातें करते हुए जब किसी से कोई प्रभाव डालने वाली उक्ति सुनता था तो उसे वह तुरन्त लिख लेता था और अपनी किसी रचना में अवश्य रख देता था। इसका मतलब यही हुआ

कि बोलचाल की भाषा के जीवन्त शब्द-प्रयोग उसकी का अनायास अंग बन जाते थे। परन्तु केवल जीवन्त शब्दों को कविता में प्रयुक्त करना पर्याप्त नहीं होता। जब तक कोई कवि अपनी ऐसी विशिष्ट भाषा को प्रतिष्ठित नहीं करता जो केवल उसी की हो सकने का पाठकों में विश्वास उत्पन्न हो तब तक उस कवि को भाषा के क्षेत्र में सफल नहीं समझा जाता। पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी आदि महान कवियों की सम्पन्नता को इसी दृष्टि से देखा जाता है। स्व धूमिल की भाषा भी उसकी विशिष्ट भाषा लगती है। उसका कोई चाहकर भी यथावत् अनुकरण कर नहीं सकता। इस तरह की अत्यन्त विशिष्ट भाषा की निर्मिति के लिए रचनाकार को अनेक विशिष्ट शब्द प्रयोगों को रूढ करना पड़ता है। अनेक वाक् प्रचारों को चालू करना पड़ता है। कुछ विशिष्ट शब्दों को पारम्परिक अर्थों से मुक्त करके नये अर्थों से उन्हें जोड़ना पड़ता है। यह तो इस युग में सम्भव नहीं कि कोई नया कवि कथानक रूढ़ियाँ निर्माण करने में सफल हो। अत्यधिक तीव्र गति से बदलती जीवन-स्थितियाँ अनेक प्राचीन काव्यशास्त्रीय मान्यताओं को त्यागने पर हमें विवश करती हैं। ऐसी ही मान्यताओं में काव्य-रूढ़ियाँ और कवि-समय को भी गिनाया जा सकता है। आजकी कोई प्रतिभा यदि अपने किसी भी काव्य विशेष को लम्बे परवर्ती काल के लिए अनुकरणीय-अनुसरणीय रूप में छोड़ नहीं सकती तो धूमिल से ही वह अपेक्षा क्यों रखी जाय? उसके संदर्भ में इतना भी पर्याप्त है कि कुछ शब्दों के संदर्भ में ही सही उसे बहुत समय तक याद किया जाता रहेगा। जो भी उसकी रचनाएँ एक बार पढ़ लेगा उसे जहाँ कहीं और जब कभी जंगल, जनतन्त्र, दलदल, नेता, आजादी, जीभ और जाघ, कटरा, घेराव, शांतिवाद, तटस्थता, पंचशील, संसद, मोचीराम, पटकथा मदारी की भाषा, हलफिया बयान आदि दर्जनों शब्द पढ़ने पड़ेंगे तो हर बार न चाह कर और संदर्भ की पर्वाह किये बिना भी धूमिल उसे याद हो आयेगा। क्योंकि जहाँ उक्त शब्दों को उस कवि ने अपना-अपना विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है वहीं उन शब्दों ने भी कवि के विशिष्ट व्यक्तित्व के निर्माण में अद्भुत योग दिया है। पिछले पृष्ठों में किसी-न-किसी संदर्भ में कुछ शब्दों का विचार हुआ है यहाँ मैं केवल एक शब्द की चर्चा करना चाहूँगा। वह शब्द है 'जंगल' जिसे धूमिल ने अपनी कुल साठ के आस-पास रची कविताओं में लगभग दो दर्जन बार प्रयुक्त किया है। 'जंगल धूमिल का एक जानामाना प्रिय शब्द है। इससे उसने बहुत बार अव्यवस्था का बोध कराने का काम लिया है। जैसे—

(1) जिसका आधे से ज्यादा शरीर
भेड़ियों ने खा लिया है
वे इस जंगल की सराहना करते हैं—

(सं 19)

(2) और एक जंगल है—
मतदान के बाद खून में अंधेरा

पछी टता हुमा (लंगल मुखबिर है)

(स 74)

(3) मैं सिर्फ इतना भर जानता हूँ—
कि नदी के मुहाने पर
हलचल है भ्रौर जगल
भ्रपना रास्ता बदल रहा है
रात के भ्रंधेरे मे

(कल 38-39)

(4) ... छापामार
दस्ते के भ्रगुभ्रा की तरह
देह के जगल मे
गाड़ रखा था।

(कल० 61)

कभी-कभी धूमिल ने जगल शब्द का प्रयोग साहस के भ्रर्थ में किया है जैसे—

इसलिए उठो भ्रौर भ्रपने भीतर
सोये हुए जगल को
भ्रावाज दो
उसे जगाभ्रो भ्रौर देखो—
कि तुम भ्रकेले नही हो
भ्रौर न किसी के मुहताज हो

(स 125)

कभी-कभी इसी 'जगल' का प्रयोग स्वतन्त्रता के भ्रर्थ में भी किया गया है। जैसे—

बस जरा-सी गफलत होती है भ्रौर जगल
भ्रादमी की गिरफ्त से छूट कर
दीवारों की कवायद में शरीक
हो जाता है,

(स 54)

कभी-कभार तो उन्मुक्त भावाभिव्यक्ति वाले गीतों को भी धूमिल ने जंगल गीत की सज्ञा दी है। इस उन्मुक्तता के प्रति किसी तरह की दुर्भावना का होना तो दूर, सद्भावना का ही प्रदर्शन हुभ्रा है। जैसे—

उसकी जुबान पर भ्रपन यहाँ गाये जाने वाले
जगल-गीत का प्यारा-सा दर्द है

(स 61)

कभी-कभी तो धूमिल का 'जंगल' समझ के बाहर का भी अर्थ-सा दिखाई देता है। जैसे—

और मेरी छप्पर का
एक नन्हा तिनका
जंगल की शाख होने का सपना
देखने लगा है।

(कल. 40)

इसका मतलब यह कदापि नहीं कि स्व. धूमिल ने 'जंगल' को उसके मूल अर्थ से पूरी तरह विच्छिन्न ही कर डाला है। कई बार तो उक्त शब्द के मूल अर्थ में भी उसका प्रयोग देखा जा सकता है। जैसे—

बाजारों में
गाँवों में
जंगलों में
पहाड़ों पर
देश के इस छोर से छोर तक

(स 116)

और

और अपनी हिस्से की रोटी के साथ
जंगल को चला गया

(कल 37)

'जंगल' शब्द का प्रयोग धूमिल की दृष्टि से शायद केवल एक बार ही 'शतप्रतिशत सार्थकता' को लिए हो गया है। कम-से-कम मेरी तो यही धारणा है। उसने अपने गाँव (खेवली) के बारे में लिखा है—

वहाँ जंगल है न जनतन्त्र
भाषा और गूँगेपन के बीच कोई
दूरी नहीं है।

(कल 58)

उपर्युक्त पंक्तियों में केवल जंगल ही नहीं बल्कि जनतन्त्र का भी धूमिल की धारणा में विश्वसनीय अर्थ प्रकट हुआ है। इसी शब्द (जंगल) के प्रयोग की एक बार और सार्थकता खोजी जा सकती है जहाँ यौन-जीवन की कुरूपता को चित्रित करते हुये कवि ने लिखा है—

मुझे लगता है कि हाँफते हुए
दलदल की बगल में जंगल होना

आदमी की आदत नहीं अदनी लाचारी है।

(स० 30-31)

'जंगल' शब्द को दुर्बोध अर्थ में प्रयुक्त करने का मैंने एक उदाहरण दिया है। अनुरोध है कि यह दुर्बोधता केवल मुझ तक ही समझी जाय। क्योंकि सम्भव है, मैं जिन पंक्तियों को दुर्बोध समझ कर उद्धृत करता जा रहा हूँ उनका स्पष्टतर अर्थ किसी की समझ में आ जाय। मैं यह अपनी समझ की सीमा का स्वीकार हेतुन कर रहा हूँ। क्योंकि इसी दुर्बोधता की चर्चा के प्रसंग में कुछ और जोड़ सकूँ। मुझे धूमिल की कविताओं में और भी कई प्रसंग अपनी समझ से परे लगते रहे हैं। कुछ बानगियां प्रस्तुत हैं—

इन मकानों की नींव में
असंख्य नावें डूबती हैं
सुबह
उन्हें नारंगी के डिब्बा-सी खाली कर जाती है
और मुर्गे
जब दोपहर को अपनी बांग से
गलत साबित कर रहे होते हैं
उनकी खिड़कियाँ नींद में
किसी मरीज की आँखों-सी
बंद रहती हैं

(स० 56)

और

'मकान' कविता की पहली बीस पंक्तियां, बमन कविता का कद और उस औरत की बगल में लेटकर' में 'उस' का अर्थ समझ के लिए अस्वीकार्य चुनौती लगता रहा है। इसी तरह की चुनौती निम्नलिखित पंक्तियों के अर्थ में भी दिखाई देती रही है—

राजनीतिक अफवाहों का शरदकालीन
आकाश नगर के लफंगों में
आखिरी नाटक की मनपसंद भूमिकाएँ
बांट रहा है।
'रिहर्सल' के हवाबंद कमरों में
खिड़कियों के गन्दे मुहावरे गूँज रहे हैं।
शाम हो रही है
दिन की मुंडेर पर, अंधकार में आपा

झुका सूरज
अपनी आधी पर
रोशनी की गुलेल तोड रहा है।
रगो की बदचलन इच्छाएँ
शहर का सबसे अच्छा 'शो केस' तैयार
कर रही है
(स 48)

अनाकलनीय उद्धरणो को यहाँ देने का मेरा एक विशेष हेतु यह बताने का है कि उक्त उद्धरणो मे दुर्बोधता भाषा के कारण नही आयी है। जिन-जिन काव्याशो को और कविताओ को मैंने मेरे लिए अनाकलनीय कहा है वे भाषा के स्तर पर नही भावो के स्तर पर अनाकलनीय है। उक्त सभी काव्यांशो और कविताओ मे प्रयुक्त एक-एक शब्द का अर्थ, (यहाँ तक कि अगरेजी शब्दो के भी!) मैं जानता हूँ परन्तु इससे भी मुझे उक्त रचनाओ का अर्थबोध होने मे कोई विशेष सहायता नही होती। हो सकता है उक्त दुर्बोध समझे जाने वाले उद्धरणो मे कोई 'प्रतीकार्थ' हो या फिर होन-न हो कोई 'बिम्ब' ही हो और वह भी ऐसा सशक्त कि एक साथ कई अर्थो को उद्घाटित कर डालता हो तो मेरी ना समझी पर जानकार तरस खायेगा। मै तो इस बारे मे इतना भी सुनने को तैयार हूँ कि कोई कहे-'अरे, इन उद्धरणो का अर्थ तो हमारे पास के स्कूल के छोकरे जानते हैं और तुम्हे समझने मे दिक्कत होती है?'

वैसे मैंने इस पृष्ठ तक आते-आते शिल्प के साथ प्रतीक तथा बिम्ब के सहज सम्बन्धो की सभावना तक शिल्प-चर्चा को पहुँचा दिया है। परन्तु प्रतीक और बिम्ब के विचार मे घुसने से पहले एक दो और ऐसी बातो की चर्चा करना चाहूँगा जिनका सम्बन्ध भी स्व० धूमिल की रचनाओ के शिल्प से है। इनमे अलकार और तुक को तरजीह देना चाहूँगा। वैसे धूमिल की कविता का विचार करते हुए अलकारो का विचार अवश्य ही कुछ अटपटा-सा लगेगा। परन्तु इसके बारे मे मुझे बस केवल इतना ही कहना है कि धूमिल की कविता वक्रोक्तिमूलक है। चाहे वक्रोक्ति को कोई प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र (अलकार-शास्त्र) से जोड कर देखे या फिर स्वतत्र रूप मे देख ले। रही बात तुक की। 'प्रिय प्रवास' महाकाव्य से आरभ हुई भिन्नतुकात काव्य-रचना-पद्धति और 'निराला' का काव्य को हर बन्धन से मुक्त करने के लिए किया गया सफल विद्रोह देखकर लगता है कि धूमिल के रचना काल तक पहुँचते-पहुँचते तुक का नाम भी लेना हास्यास्पद बात होगी। परन्तु यह तो मानव-मन की दुर्बलता है कि जिसे वह भूलना चाहता है उसे भुलाने के लिए ही सही याद कर लेना पडता है। यदि हम किसी अप्रिय वस्तु को भुलाने के लिए उससे घृणा-भाव पैदा कर ले तो

भी उसे भुलाना मुश्किल हो जाता है। इसीलिए मनोविश्लेषक घृणा को भी प्रेम का ही एक अलग रूप मान लेते हैं। यह मनोवैज्ञानिक गुत्थी इसलिए सुलझा रहा हूँ कि इसी के सहारे मुझे धूमिल की रचनाओं में तुक की स्थिति को स्पष्ट करना है यद्यपि धूमिल ने बड़े साफ-साफ शब्दों में तुकबन्दी का लताड़ा था फिर भी वह स्वयं तुक के बेतुके मोह से खुद को मुक्त करा सकने में असमर्थ सिद्ध हो गया था। तुक की गद्यता बताते हुये उसने लिखा था—

> क्या मैं व्याकरण की नाक पर
> रूमाल लपेट कर
> निष्ठा का तुक
> विष्ठा से मिला दूँ?

(स० 67)

इतने पर भी उसकी कविताओं में तुकबन्दी बराबर सिर उठाती देखी जा सकती है। प्राचीन कवियों की तरह बाकायदा हर दूसरी पंक्ति में तुक भले ही न मिले, कभी 3–4 या कभी 4-5 पंक्तियों के बाद में ही सही वह मिलता हुआ देखा जा सकता है। इसीलिए तो 'रसद' का 'मदद', से 'हत्यारा' का 'मारा' से, 'गाय' का 'हाय से, 'पूँजी' का 'जूजी' में 'शील' का 'कील' से, 'चहकता' का 'महकता' से आदि सैंकड़ों की संख्या में तुक मिलते हुए खोज जा सकते हैं। वैसे ये तुक कविता के शिल्प विषयक आधुनिक मान्यताओं के विपरीत पड़ते हों तो बेशक पड़ें परन्तु इनमें धूमिल की कविता में सम्प्रेषणीयता बढ़ी है। यदि सम्प्रेषणीयता ही काव्य का प्रमुख गुण हो तो उसे पुष्ट करने वाले उक्त तुकों को अनुचित नहीं ठहराया जा सकता।

स्व० धूमिल की कविताओं की प्रतीकात्मकता और बिम्बात्मकता की चर्चा से पहले एक और विशेषता का निर्देश आवश्यक समझता हूँ। सम्प्रेषणीयता के लिए परम सहायक तुकों को अपवाद रूप में छोड़ दिया जाय तो उसकी कविताएँ गद्यात्मक भाषा में लिखी गयी हैं। हिन्दी की आधुनिक कविता में गण और मात्रा पर आधारित छन्दों के बन्धनों को तो कभी का काटा गया था। धूमिल के रचना काल तक तो छन्दों का मात्रा निरपेक्ष रूप भी कवियों को अस्वीकार्य हुआ। कविता की दो पंक्तियों में किसी भी तरह का, न मात्राओं का, न शब्दों का, न अक्षरों का अनुपात बनाए रखने की अनावश्यकता का स्वीकृति मिली तो काव्य पंक्ति की लम्बाई के लिए कोई भी पूर्व-निश्चित प्रतिमान न बचा। परिणामतः नये कवियों की रचनाओं में केवल विन्दो-मकतों से भी पंक्तियाँ लिखी जाने लगी। परन्तु धूमिल का प्रयोग उस सीमा तक नहीं पहुँचा इसीलिए उसकी कविता में एक ओर तो एक लम्बे

चौड़े वाक्य की भी एक पंक्ति लिखी जाने लगी तो दूसरी ओर केवल एक-एक अक्षर से भी काव्य-पंक्ति निर्मित होने लगी। दोनों प्रकार के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(1) 'पूरी नैतिकता के साथ अपने सड़े हुए अंगों को सह रहा हूँ।'

अथवा

पेट से लड़ते-लड़ते जिसका हाथ अपने प्रजातंत्र पर उठ गया है।

और

(2)

या
ता
या
त
को
रा
स्ता
देती हुई जलती रहेगी
चौरास्तों की बस्तियाँ

अथवा

(2)

भाषण में जोश है
पानी ही पानी है
पर
की
च
ड़
खामोश है

इस प्रकार की काव्य-पंक्तियाँ मात्र काव्य-पंक्ति-सम्बन्धी पाठकों के पुराने संस्कारों को तोड़ने के लिए रचित नहीं हैं। इनके पीछे कवि की एक पूर्वनिश्चित धारणा को देखा जा सकता है। जिस प्रकार धूमिल ने विराम, अर्द्धविराम और पूर्णविराम के चिह्नों को तिलांजलि हेतुत दे रखी है उसी तरह काव्य-पंक्तियों का स्वरूप भी सहेतुक निश्चित किया-सा लगता है। मुझे इसमें अर्थगत लय का अनुभव होता है। एक-दो उदाहरण देखे जा सकते हैं। जैसे—

'सौंदर्य में स्वाद का मेल
जब नहीं मिलता

कुत्ते महुवे के फूल पर
मूतते हैं'

पंक्तियों को ही यदि—

'सौंदर्य में स्वाद का मेल जब नहीं मिलता
कुत्ते महुवे के फूल पर मूतते हैं'

लिख लिया जाता तो भी कविता के अर्थ में कोई अनर्थ उत्पन्न नहीं होता। परन्तु 'मेल के बाद दूसरी पंक्ति और 'पर' के बाद दूसरी पंक्ति को रखने से अर्थ के प्रति जिज्ञासा बढ़ जाती है। मैंने इससे पहले इसी अध्याय के आरंभ में धूमिल की कविता 'ऊंघते हुए के दोनों कंधों को पकड़ कर झकझोरने वाली' इसी लिए कहा था। कोई पाठक उसकी कविता की पूर्व पंक्ति के अर्थ का अनुमान नहीं लगा सकता, यदि वह आदतवश ऐसा करता ही हो तो उसका अनुमान कदम-कदम पर गलत साबित होता जाता है और समीक्षा की शब्दावली में वह 'चौंकता जाता है।' इस तरह के दर्जनों उद्धरण दिये जा सकते हैं परन्तु विस्तार भय से केवल तीन प्रस्तुत करना पर्याप्त समझता हूं।

वर्ना उस भलेमानुस को
यह भी पता नहीं है कि विधानसभा-भवन
और अपने निजी बिस्तर के बीच
कितने जूतों की दूरी है।

(स० 137)

× × × ×

दूर बहुत दूर
जहां आसमान अपने बौने हाथों से
हिन्दुस्तान की जमीन का
नंगा कर रहा है

× × × ×

जब पेड़ किसी खोटे सिक्के-सा
उछलकर घाटी की गुमसुम हथेली पर
दनदनाकर गिरता है एक तना
दूसरे तने को चाकू पकना सिखाता है।

(कल० 39)

इन उद्धरणों से एक बात अनायास ही यह स्पष्ट होती-सी लगती है कि अपनी कविता में चमत्कार उत्पन्न करने की धूमिल के मन में अवश्य अभिलाषा रही होगी। वह अभिलाषा भाषा और भाव के स्तर पर उसकी कविताओं में उभर आयी है। परिणामत उसकी कविताओं में कभी भागवत दुर्बोधता, चौंकाने वाला गुण

और कभी भाषागत सूक्तिधर्मिता आयी है। सूक्ति से मतलब नैतिकता सिखाने वाली अच्छी उक्ति नहीं बल्कि कम-से-कम शब्दों में अधिक से-अधिक अर्थ देने वाली सूत्र-बद्ध उक्ति लिया जा सकता है।

काव्य-भाषा के बारे में अन्तत एक बात को, जो बहुत साधारण समझी जायगी, जोड़ना चाहूँगा। स्व० धूमिल ने अपनी कविता को सम्प्रेषणीय बनाने के लिए ऐसी भाषा को चुना जिसमें देशी-विदेशी बोली और भाषा के शब्दों का प्रयोग निषिद्ध नहीं है। 'लब्बोलुवाब' 'जरायमपेशा', 'अप्रत्याशित', 'समानांतर', 'कार्यप्रणालियाँ' 'रायल्टी' 'लूप' 'कोरस' जैसे कई भाषाओं के तत्सम शब्दों का प्रयोग बेखटके हुआ है। इतना ही नहीं बल्कि अंगरेजी की एकाध पूरी पंक्ति ही रोमन लिपि में लिख दी गयी है। वस्तुत अरबी-फारसी के शब्दों की बात है परन्तु अंगरेजी के तत्सम शब्दों को कविताओं में प्रयुक्त करना आगामी कल के लिए सम्प्रेषण के संकट को आमन्त्रित करना है। आजकी कहानी, नाटक, आलोचना में हो रहे अंगरेजी के शब्दों के प्रयोग की अधिकता को देखकर मेरी उक्त संकट की आशंका को कोई भी तुरन्त हास्यास्पद ठहरा सकता है। परन्तु मेरी उक्त आशंका उक्त हिन्दी साहित्य की विधाओं को सामने देख कर उत्पन्न नहीं हुई है। दूर-दराज में फैले प्रथालयों की अल्मारियों में पड़ी, सड़ रही अंगरेजी पुस्तकों का देखकर उक्त आशंका मुझ में उत्पन्न हुई है। खैर यह एक विवादास्पद विषय होने से और मुझे किसी भी प्रकार के विवाद में उलझने में रुचि न होने से इसे केवल इतनी ही टिप्पणी के साथ समाप्त करना चाहूँगा कि हिन्दी-कविता में अंगरेजी भाषा (और रोमन लिपि का भी) प्रयोग अनावश्यक है। इसकी भर्त्सना इसलिए नहीं कर रहा हूँ कि धूमिल ने शराब की बोतल पर चिपके 'लेबुल' को रोमन लिपि में यथावत् उद्धृत कर दिया दिया है।

इस काव्य-भाषा की चर्चा के प्रसंग में अब 'अलंकार, तुक, तत्सम-तद्भव, देशी-विदेशी भाषाओं के शब्द, व्याकरण-सम्मत चिह्न आदि के विचार में केवल एक बात छूटी है। स्व० धूमिल की काव्य-भाषा साधारण-जन की समझ में आने के लिये लिखी जाने से उसमें कवि के प्रदेश-विशेष की बोली का भी प्रभाव होना स्वाभाविक था। मैंने जैसा कि पहले ही अध्याय में स्वीकार किया है, आज की व्रज, अवधी, राजस्थानी में मेरा कोई परिचय न होने से मैं समझता हूँ उनके बारे में कुछ भी लिखना मेरी गलती होगी। और जानकारों की सम्मतियाँ देकर उक्त प्रादेशिक भाषा के प्रभाव को भी स्पष्ट किया जा सकता है परन्तु वह मेरे लिए इसलिए अनावश्यक है कि धूमिल के क्षेत्र में प्रचलित-विशेष के प्रयोग कविताओं में पढ़कर मुझ-से दूर-सुदूर के प्रदेश में रहने वाले को न कोई भावात्मक सौंदर्य का बोध होता है और न ही भाषात्मक चमत्कृति का ही अनुभव हो सकता है। यदि होता हो कुछ है तो सभ्रम अवश्य उत्पन्न होता है जैसा 'जूजी' शब्द से हुआ था। परन्तु यह भी सच

है कि मैं उक्त प्रादेशिक बोली के शब्दों के प्रयोग के लिए धूमिल को किसी भी तरह से गलत नहीं मानता। यह मेरा उसके प्रति अश्रद्ध होना नहीं है बल्कि मेरे विचार में पूर्व—पश्चिम, दक्षिणोत्तर फैले इस महादेश के निवासियों को हिन्दी का साहित्य भाषा-बोध और वैचारिकता के स्तर पर ही एकता के सूत्र में बाँध दे तो भी बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। जहाँ तक वैचारिक सम्प्रेषण और भावात्मक अभिव्यक्ति का प्रश्न है धूमिल की उसमें मिली सफलता में उसकी प्रादेशिक बोली के चन्द शब्दों के प्रयोग किसी भी अल्पतम मात्रा में बाधा नहीं पहुँचा सके हैं। एकाध दूसरे शब्द-प्रयोग से उत्पन्न होने वाली काव्यार्थगत दुरूहता को हम अपवाद जान कर छोड़ सकते हैं।

स्व० धूमिल की कविताओं का शिल्प पक्ष देखने के क्रम में भाषा-तत्व का विचार कर लेने के बाद उसके प्रतीक और बिम्बों का विचार करना आवश्यक है। प्रतीक और बिम्ब के बारे में स्वयं कवि का विचार मैंने इसी अध्याय के आरम्भ में उद्धृत किया है। उसे ध्यान में रखने पर यही कहना पड़ता है कि धूमिल उक्त काव्य विशेषों के प्रति वाखबर था। उसे प्रतीक और बिम्ब की सत्ता तो स्वीकार्य थी परन्तु उनकी अधिकता को वह हास्यास्पद मानता था। परन्तु लगता है उसका यह विचार भी तुकबन्दी धारणा जैसा बहुत ठीक नहीं सिद्ध हुआ। यह धारणा मेरी नहीं, हिन्दी के जाने माने समीक्षक श्री चन्द्रकान्त बांदिवडेकर की है। उन्होंने लिखा है कि 'अगर बिम्ब को ही काव्य का यथार्थ समझा जाये तो धूमिल की कविता में प्रयुक्त बिम्बों के आधार पर उन्हें महाकवि भी कहा जा सकता है-।' (आलोचना अंक 33 पृष्ठ 81) परन्तु उक्त धारणा की बहुत गहरी सार्थकता मेरी तो समझ में नहीं आयी है। इस नासमझी का धूमिल की कविताओं में बिम्बों का आधिक्य न होने की अपेक्षा मैं अपनी ही बिम्ब सम्बन्धी समझ की दुर्बलता में देखता हूँ। वस्तुतः प्रतीक और बिम्ब का सहज रीति में बिल्कुल अलग-अलग देख-समझ पाना मेरे लिए तो मुश्किल होता रहा है। क्योंकि समीक्षा करने वाले जब भी उक्त काव्य-तत्वों को समझाने लगते हैं तब उनकी तात्विक चर्चा पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के सिद्धान्तों को लेकर होने लगती है और उनके व्यावहारिक उदाहरण अपनी देशी कविता से जुटाये जाते हैं। दोनों का बेमेल संयोग पाठकों के मन में प्रतीक और बिम्ब के बारे में पहले से चली आ रही अस्पष्टता को दिग्भ्रम में बदल कर रखने के लिए पर्याप्त होता है। प्रतीकों और बिम्बों का विवेचन इधर की अनेक समीक्षा-सम्बन्धी पुस्तकों का अभिन्न अंग बन गया है। केवल प्रतीकों और बिम्बों पर स्वतन्त्र कृतियाँ भी प्रकाशित हुई हैं। मैंने अपने पास उपलब्ध कृतियों के पृष्ठ उलट कर देखने और चर्चित विषय को समझने की अवश्य कोशिश की है परन्तु पल्ले बहुत कम पड़ा है। प्रतीकों के भी धार्मिक, बौद्धिक, प्राकृतिक, यौन, काव्यात्मक मनोवैज्ञानिक, वर्णात्मक, भाषिक दार्शनिक, रहस्यात्मक आदि प्रकार पढ़कर और बिम्ब का भी दृश्य, श्रव्य,

स्पृश्य, घ्रातव्य, रस्य, समाकलित, वस्तुपरक, स्वच्छन्द, लक्षित, उपलक्षित, सरल, संश्लिष्ट, खंडित आदि भेदोपभेदों में रखा हुआ देखकर बड़ी उलझन उत्पन्न होती है मन में। प्रतीक-बिम्ब सम्बन्धी उक्त बारीकियों को दृष्टिगत रख कर न किसी कवि की रचनाओं का अध्ययन किया जा सकता है और न ही ऐसे प्रयास से कोई उपलब्धि ही होती है। अतः प्रतीक और बिम्ब सम्बन्धी एक सुबोध धारणा को मन में रख कर किसी कवि की रचनाओं को पढ़ जाना अधिक व्यावहारिक होता है। ऐसी ही एक धारणा डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के निम्नांकित विवेचन से बनायी जा सकती है—

☸ प्रतीक किसी सूक्ष्म भाव की अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षया स्थूल तत्त्व का चुनाव है। जैसे सूर्य ज्ञान का प्रतीक है, अंधेरा विभ्रम या पाप का प्रतीक है, कमल स्निग्ध और मंगल का प्रतीक है। प्रतीक कालान्तर में भाषा की सामान्य शब्दावली की तरह बहुप्रचलित और स्वीकृत हो जाते हैं, जैसे कि उपयुक्त प्रतीक हो गये हैं। फिर कविता के विकास में नये प्रतीक बनते हैं और क्रमशः रूढ़ बन कर स्वीकृत हो जाते हैं। प्रतीक-विधान का यह रूप काव्य-भाषा के विकास का पहला स्तर है। अगला और अधिक विकसित स्तर बिम्ब प्रक्रिया का है। बिम्ब या भाव-चित्र की प्रक्रिया अधिक संश्लिष्ट होती है। वह कई तत्त्वों से निर्मित होने के कारण स्थिर न रहकर गतिशील होता है और उसका प्रतीक की तरह पूर्वस्वीकृत अर्थ नहीं होता। इसलिए कविता में अर्थ को स्वायत्त तथा विकसनशील बनाये रखने का मुख्य दायित्व बिम्ब पर होता। (कविता यात्रा/पृ 108)

☸ 'काव्य जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करता है और आधुनिक काव्य की सूक्ष्म अर्थवत्ता बिम्ब से निर्मित होती है।' (कविता-यात्रा/पृ 110)

☸ 'कभी कभी तो एक ही प्रकार के उपकरणों से दर्शन का दृष्टान्त और काव्य-बिम्ब दोनों बनते हैं। कुम्हार का घड़ा दर्शन में एक दृष्टान्त है, कविता में बिम्ब है। पर जब कबीर कहते हैं—

'जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तत कथौ गियानी॥'

तो यहाँ घट का बिम्ब अनुभव को समृद्ध करता है और अर्थ के 'स्पष्टीकरण' का साधन न बनकर स्वयं में ही अर्थ के 'विकास की प्रक्रिया' हो जाता है। इस माने में बिम्ब काव्य का दृश्य उपकरण न होकर अर्थ की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया है, जो क्रमशः अद्वैत की ओर उन्मुख होती है। (कविता-यात्रा-पृ 111)

प्रतीक और बिम्ब-संबंधी उपर्युक्त विचार धूमिल की कविता के प्रतीक और बिम्बों को समझने में सहायक हो सकते हैं। वस्तुतः जब हम यह स्वीकारते हैं कि

धूमिल ने नयी काव्य भाषा को नये-नये शब्दों से लेकर नये नये बिम्बों के निर्माण तक गढ़ लेने में सफलता प्राप्त की है ? यदि आलोचक उनकी रचनाओं में काव्य भाषा और काव्य मार्ग के प्राय सभी सफलता के लक्षण खोज लें तो उक्त प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है। जहाँ तक मैंने उक्त रचनाओं को बार-बार पढ़ कर उसमें सशक्त बिम्बों का खोजने का प्रयास किया है, तो मुझे बहुत कम सफलता मिली है। यदि मैं यहाँ उक्त कवि की रचनाओं से कुछ बिम्बों के प्रमाण जुटा भी दूँ तो वह ठीक उसी तरह होगा जैसे किसी मुशायरे में बैठ कर किसी शायरी पर दूसरों की देखी-देखी खुद भी वाहवाही लुटाना, भले ही वह शायरी खाक समझ में आये।

प्रतीक और बिम्ब के अन्तर के बारे में मेरी अस्पष्ट धारणा का एक कारण और है—स्वयं उक्त दोनों काव्य-तत्त्वों में ही बहुत स्पष्ट अन्तर का न होना। इन्हें मानसिक धरातल पर चर्चित करते हुये डा वीरेन्द्र सिंह के (एच एच प्राइस द्वारा लिखे) निम्नलिखित अनूदित शब्दों में भी मुझे काफी सार्थकता लगती है—

मन की आदितम क्रिया बाह्य प्रभावों को मानसिक-बिम्ब के रूप में परिणत करना था। यह बिंब-ग्रहण की क्रिया प्रतीक निर्माण की प्रथम अवस्था या दशा है। इस प्रकार, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, बिम्ब ग्रहण एक मानसिक प्रक्रिया है जो प्रत्यक्ष-बोध (पर्सेप्शन) पर आधारित है। बिम्ब की प्रकृति किसी अवधारणा या विचार की उद्भावना करना नहीं होती है। इसका कार्य चिह्न (साईन) की तरह होना है। दूसरी ओर प्रतीक-सृजन की क्रिया एक अधिक जटिल मानसिक क्रिया है जिसमें बोध, बिम्ब तथा मानसिक साहचर्य का भी योग रहता है। इस अवस्था में आकर प्रतीक किसी वस्तु भाव या विचार (प्रत्यक्ष) का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि बिम्ब-ग्रहण और प्रतीक-सृजन मन की अलग अलग क्रियाएँ नहीं हैं। दोनों का अभेद सम्बन्ध है—केवल इस अन्तर के साथ कि बिम्ब मन के धरातल की क्रिया है और प्रतीक, मन की सूक्ष्म और अधिक व्यापक प्रक्रिया है।' (प्रतीक दर्शन-पृ 21)

प्रतीक और बिम्बों की किसी भी कविता में खोज करना खोजकर्ता की दृष्टि सापेक्ष काम होता है यह एक अपेक्षाकृत जटिल क्रिया इसलिए है कि स्वयं कवि द्वारा अनुभूति जगत से बिम्ब-ग्रहण करने से लेकर आलोचक द्वारा कवि की रचना की दुनिया में बिम्ब की खोज करने तक का मार्ग अनाकलनीय मानसिक जटिलतम क्रियाओं से निर्मित होता है। कवि द्वारा स्वानुभूति के आधार पर ग्रहण किये गये बिंब की आलोचक द्वारा कविता पाठ के आधार पर ग्रहण किये जाने वाले बिम्ब से एकरूपता हो यह कतई आवश्यक नहीं। कहते हैं कि दूध के आगे सफेद कागज के टुकड़ों के ढेर को देख कर उसे एक युवती ने जूही के फूलों का ढेर मान लिया

था तो एक मुक्कड ने तीलों का ढेर समझ लिया था। जहाँ इस दुनिया की प्रत्यक्ष संवेद्य वस्तुओं की वास्तविकता के ग्रहण में इतना अन्तर हो तो कविताओं में खोजे वाले सांकेतिक और तर्काश्रित बिंबों को ग्रहण करने से वास्तविकता का कितनी निकटता का सम्बन्ध होगा, यह सहज अनुमान करने की बात है। कवि के बिम्ब-ग्रहण में वस्तु-बोध की वास्तविकता उसके वस्तु-बोध की प्रामाणिकता पर निर्भर करती है और वस्तु-बोध की प्रामाणिकता वस्तु के नैकट्य की सापेक्ष होती है। ठीक इसी तरह कविता से बिम्बों की खोज करना और खोजे गये बिम्बों की सही व्याख्या करना भी व्याख्याकार की व्यापक संवेदनशीलता और भाषा के साथ घनिष्टतर परिचय पर निर्भर करता है। इसी दृष्टि से मुझ-से किसी साधारण पाठक के लिए धूमिल की कविताओं में बिम्बों का अभाव दिखाई देना है तो श्री वांदिवडेकर जी को उन्हीं कविताओं में बिम्बों की समृद्धि दिखाई देती है।

स्व धूमिल की विचारों-भावों की अभिव्यक्ति के साथ प्रतीकात्मकता जुड़ी होने का मेरा विश्वास है ऐसे उदाहरण मैं अवश्य ढूंढ सकता हूँ। उसकी कविताओं में इस तरह की प्रतीकात्मकता शब्दस्तर से लेकर समूची कविता के स्तर तक मिलती है। 'जंगल' को अव्यवस्था का प्रतीक मानने के स्व धूमिल के विचार को मैंने इसी अध्याय के पूर्व प्रसंग में स्पष्ट कर ही दिया है। शान्ति यात्री, कटघरा, मटारी की भाषा, जलना जनतंत्र, दलदल, आदि शब्दों के साथ भी प्रतीकार्थ जुड़े हुवे हैं। पटकथा का स्वप्न प्रसंग प्रतीकात्मक है और समूची कविता 'मोचीराम' भी प्रतीकात्मक है। इन सभी के पीछे निहित प्रतीकार्थों को स्पष्ट करना अनावश्यक इसलिए है कि ये प्रतीक स्वयं ही सूर्यप्रकाशवत स्पष्ट हैं। धूमिल की प्रतिभा पर आश्चर्य तो तब होता है जब कि उक्त प्रतीकों को प्रतिष्ठापित-प्रचलित करने के लिए उन्हें बार बार प्रयुक्त करने की उसे आवश्यकता नहीं पड़ी। गिने-चुने प्रसंगों में और संदर्भों की सशक्त सार्थकता में आकर उक्त शब्द धूमिल के प्रतीकों के रूप में स्वीकृत हो गये हैं। प्रतीकों और प्रतीकार्थों को समझने की बौद्धिक क्षमता उस जन-समूह में अवश्य होती है जो कवि के सम्बोधन का लक्ष्य था और जिसके प्रबोधन की उसमें अदम्य आकांक्षा थी। आज तक ऐसे प्रतीक उक्त सामाजिक वर्ग में प्रचलित देखे जा सकते हैं जिनका सम्बन्ध रामायण-महाभारत से है। किसी कापुरुष को शिक्षित व्यक्ति 'शिखंडी' या 'नपुंसक' कहता है। इधर हमारे देहातों में उसे 'भरनटा' (बृहन्नला का अपभ्रष्ट रूप) कहते हैं। यह 'भरनटा' भी तो एक प्रतीक ही है। ऐसे ही साधारण जनों के लिए सुबोध प्रतीकों का निर्माण कवि-कर्म का कौशल कहा जा सकता है। ऐसे प्रतीकों का निर्माण समृद्ध साहित्यिक परम्परा से उपादान खोजकर कर लेना अपेक्षाकृत सरल हो सकता है परन्तु समकालीन जीवन से ऐसे उपादान ढूंढ कर उन्हें प्रतीकों की प्रतिष्ठा दिलाना बड़ा कठिन कार्य होता है। यही कठिन कार्य धूमिल ने कर दिखाया है।

कुल मिलाकर कह सकता हूँ कि स्व. धूमिल की कविता जनसाधारण तक सम्प्रेषित होने वाली है। उसके भाव और विचार किसी भी साधारण व्यक्ति की समझ में परतों में अनाज से उतरने वाले हैं। उसके शिल्प-पक्ष का भाषा तत्त्व भी औरों की तुलना में मौलिक है। इस मौलिकता को साधारण भी समझ सकते हैं। उसके प्रतीकों का समझना कठिन नहीं है परन्तु बिम्बों की कविता में अवस्थिति और उनकी गहन अर्थवत्ता की चर्चा मात्र बौद्धिकों के पल्ले पड़ने वाली वस्तु है। यदि केवल प्रतीकों और बिम्बों के आधार पर हम उसकी महानता की स्थापना करते रहेंगे तो सम्भव है उसे हम जनसाधारण से छीन कर विशिष्टों तक सीमित कर दें। यह हमारी प्रवृत्ति विशेष है कि हमने देश के बड़े-बड़े महात्माओं तक को जाति विशेष से सम्बद्ध करके उनकी व्यापक मानवता की अवहेलना का छोटी करने का कमाल कई बार कर दिखाया है। ठीक यही हालत साहित्य में भी रचनाकार की होती है। कहीं किसी रचनाकार में प्रतिभा का थोड़ा सा भी उन्मेष दिखाई पड़ता है तो हमारे विद्वान आलोचक उसकी रचनाओं की विशेषताओं के ऐसे गूढ़े समीक्षाशास्त्रीय आयाम उद्घाटित करने में अपनी कल्पना शक्ति के जौहर दिखा देते हैं कि वह रचनाकार साधारण पाठक वर्ग से छिन जाता है और आलोचक-वर्ग की वस्तु बन जाता है। वस्तुतः आज स्व. धूमिल जैसे जनवादी कवि पर सैद्धान्तिक आलोचनाओं की बजाय प्रतिक्रियात्मक आलोचनाएँ लिखी जाएँ तो उसे आज और कल भी सुनने वाले अपनी प्रतिक्रियाओं की स्वस्थता, स्पष्टता, पूर्वग्रह दूषितता या फिर शिथिलता के गुण दोषों को समझ सकने में अपने को सुविधा की स्थिति में पाएँगे। अपने इसी विश्वास के साथ मैंने पिछले चन्द पृष्ठों पर उसकी कविताओं के कथ्य और शिल्प पर अपनी प्रतिक्रियाएँ अंकित करने का साहस किया है। आशावादी जन इस आलोचक और जनवादी पाठक उत्सुकतापूर्वक देखेंगे।

अन्त में पहले अध्याय के चर्चित कटघरे में पुनः लौट आना चाहूँगा। यह सही है कि कटघरे की व्यवस्था न वादी को और न प्रतिवादी को सच्चा न्याय देने में समर्थ है फिर भी जब तक न्याय-प्राप्ति के लिए किसी और विकल्प की खोज नहीं की जा सकती तब तक इसी कटघरे की न्याय-व्यवस्था के प्रति आस्थावान् होना आवश्यक है। अपने साधक-सच्चे वक्तव्य को भी अव्यवस्था के बीहड़ जंगल में अरण्य रुदन-सा व्यर्थ जान कर भी जीवन के प्रति जिस गहरी आस्था और स्वस्थ दृष्टि से धूमिल ने कविताएँ लिखी हैं उस आस्था और दृष्टि का प्रचार और प्रसार अव्यवस्था को बदलने का न सही कम-से-कम जागरूक धीरज के साथ उसके विरोध में खड़े होने का साहस देगा इसमें मुझे अटूट विश्वास है।